व्यावहारिक जीवन में वेदान्त

स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण आश्रम
धन्तोली, नागपुर-१

व्यावहारिक जीवन
में
वेदान्त

स्वामी विवेकानन्द

(द्वितीय संस्करण)

श्रीरामकृष्ण आश्रम
धन्तोली, नागपुर

प्रकाशक:–

स्वामी भास्करेश्वरानन्द,

अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम

धन्तोली, नागपुर–१.

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृति-ग्रन्थमाला

पुष्प ४६ वाँ

मुद्रक—

एम. आर. साखरे

प्रकाश प्रिंटिंग प्रेस,

नागपुर २.

मूल्य १ रु. १५ न.पै.

वक्तव्य

'व्यावहारिक जीवन में वेदान्त' पुस्तक का यह द्वितीय संस्करण है। प्रस्तुत पुस्तक स्वामी विवेकानन्दजी द्वारा लन्दन में 'व्यावहारिक वेदान्त' पर दिये गये चार भाषणों का संग्रह है। साधारणतः लोगों में यह धारणा प्रचलित है कि वेदान्त केवल सिद्धान्तों का ही समुच्चय है और दैनिक कर्मजीवन के पहलुओं के साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—वह केवल बुद्धिवादियों के मस्तिष्क की चहारदीवारी तक ही सीमित है, अतः व्यावहारिक जीवन में इसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। परन्तु इन भाषणों द्वारा स्वामीजी ने स्पष्ट दर्शा दिया है कि किस प्रकार वेदान्त अत्यन्त व्यावहारिक है तथा वह मनुष्य को किस प्रकार अपने सर्वांगीण जीवन-गठन में सहायता प्रदान करता है। इन भाषणों में स्वामीजी ने वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए उनको दैनिक जीवन में व्यवहृत करने का मार्ग स्पष्टरूपेण निर्दिष्ट कर दिया है; उन्होंने दिखला दिया है कि किस प्रकार राजा से लेकर रंक तक—सभी समान रूप से जीवन के सभी क्षेत्रों में इससे लाभान्वित हो सकते हैं और इस तरह उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि वेदान्त की उपादेयता सार्वभौम है।

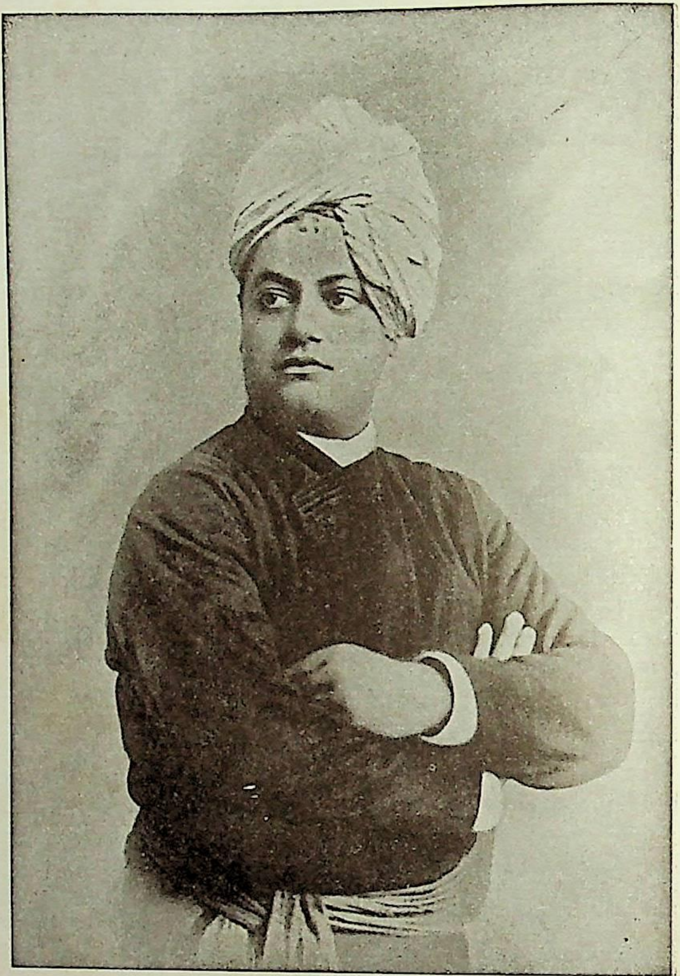
श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री, एम. ए., प्रयाग, के हम बड़े आभारी हैं, जिन्होंने यह अनुवाद बड़ी सफलतापूर्वक किया है।

हम आशा करते हैं, जनता इस पुस्तक के प्रकाशन से अत्यधिक लाभान्वित होगी।

नागपुर,

दि. १-७-१९५९ —प्रकाशक

अनुक्रमणिका



स्वामी विवेकानन्द

व्यावहारिक जीवन में वेदान्त

प्रथम व्याख्यान

(लन्दन में, १० नवम्बर १८९६ को दिया हुआ भाषण ।)

बहुत से लोगों ने मुझसे व्यावहारिक जीवन में वेदान्त-दर्शन की उपयोगिता पर कुछ बोलने के लिये कहा है । मैं तुम लोगों से पहले ही कहा चुका हूँ, सिद्धान्त बिल्कुल ठीक होने पर भी उसे कार्यरूप में परिणत करना एक समस्या हो जाती है । यदि उसे कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सकता तो बुद्धि-विलास के अतिरिक्त उसका और कोई मूल्य नहीं । अतएव वेदान्त यदि धर्म के स्थान पर आरूढ़ होना चाहता है तो उसे सम्पूर्ण रूप से व्यावहारिक बनना ही पड़ेगा । हमें अपने जीवन की सभी अवस्थाओं में उसे कार्यरूप में परिणत करना होगा। केवल यही नहीं, अपितु आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन के बीच जो एक काल्पनिक भेद है उसे भी मिटाना पड़ेगा; क्योंकि वेदान्त एक अखण्ड वस्तु के सम्बन्ध में उपदेश देता है--वेदान्त कहता है कि एक ही प्राण सर्वत्र विद्यमान है । धर्म के सभी आदर्श जीवन के सभी अंशों के नींवस्वरूप बनें, वे हमारी प्रत्येक चिन्ता के भीतर प्रवेश करें और कार्य में भी उन्हीं का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता रहे । मैं क्रमश: व्यावहारिक जीवन पर वेदान्त के प्रभाव के बारे में ही कहूँगा । किन्तु ये व्याख्यान भावी व्याख्यानों की उप-

क्रमणिका के रूप में हैं, अतः पहले हमें वेदान्त-सिद्धान्त की आलोचना करनी होगी। हमें यह जानना है कि ये सिद्धान्त किस प्रकार पर्वतों की गुफाओं और घने जंगलों में से निकलकर कोलाहलपूर्ण नगरों के कामकाजों में भी कार्यान्वित हुए हैं। इन सिद्धान्तों में एक और भी विशेषता है और वह यह कि इनमें से अधिकांश निर्जन अरण्यवास के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं हुए, किन्तु जिन व्यक्तियों को हम सबसे अधिक कर्मण्य मानते हैं वे ही राज-सिंहासन पर बैठनेवाले राज-राजर्षि इनके प्रणेता हैं।

श्वेतकेतु आरुणि ऋषि के पुत्र थे। ये ऋषि सम्भवतः वानप्रस्थी थे। श्वेतकेतु का लालन-पालन वन में ही हुआ किन्तु वे पांचाल देश के राजा प्रवाहन जैवलि के पास गये। राजा ने उनसे पूछा, "मरते समय प्राणी इस लोक से किस प्रकार गमन करता है, क्या यह तुम जानते हो ?"––"नहीं।" "किस प्रकार यहाँ उसका पुनर्जन्म होता है, जानते हो ?"–– "नहीं।" " 'पितृयान' और 'देवयान' के विषय में भी कुछ जानते हो ?" ––आदि आदि। इस प्रकार राजा ने और भी अनेक प्रश्न किए। श्वेतकेतु किसी भी प्रश्न का उत्तर न दे सके। तब राजा ने कहा, "तुम कुछ नहीं जानते।" बालक ने लौटकर पिता से सब हाल कह सुनाया। पिता ने कहा, "मैं भी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता। अगर जानता तो क्या तुम्हें न सिखाता ?" तब पिता-पुत्र दोनों राजा के पास गए और उनसे इस गुप्त विषय की शिक्षा देने के लिये प्रार्थना की। राजा ने कहा, "यह विद्या– यह ब्रह्मविद्या केवल राजाओं को ही ज्ञात थी, ब्राह्मणों को इसका कभी ज्ञान न था।" जो हो, इसके बारे में वे जो कुछ जानते थे इन दोनों को शिक्षा देने लगे। इस प्रकार हम अनेक उपनिषदों

में यही पाते हैं कि वेदान्तदर्शन केवल वन में ध्यान द्वारा ही नहीं जाना गया, किन्तु उसके सर्वोत्कृष्ट भिन्न भिन्न अंश सांसारिक कर्मों में विशेष व्यस्त मनीषी लोगों द्वारा ही चिन्तित तथा प्रकाशित किये गए। लाखों मनुष्यों के शासक स्वतंत्र राजाओं की अपेक्षा अधिक कार्यव्यस्त और कौन हो सकता है ? किन्तु साथ ही वे राजगण गम्भीर विचारशील भी होते थे।

इस प्रकार अनेक दृष्टिकोणों से देखने पर यह स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि इस दर्शन के प्रकाश में हमारा जीवन गढ़ा तथा बिताया अवश्य जा सकता है। जब हम परवर्ती काल की भगवद्गीता की आलोचना करते हैं (शायद आप लोगों में से बहुतों ने इसे पढ़ा होगा, यह वेदान्तदर्शन का एक सर्वोत्तम भाष्यस्वरूप है) तब यही देखते हैं--और यह आश्चर्य की बात है कि इस उपदेश का केन्द्र है संग्राम-स्थल। यहीं श्रीकृष्ण अर्जुन को इस दर्शन का उपदेश दे रहे हैं और गीता के प्रत्येक पृष्ठ पर यही मत उज्ज्वल रूप से प्रकाशित है--तीव्र कर्मण्यता, किन्तु उसी के बीच अनन्त शान्तभाव। इसी तत्त्व को कर्मरहस्य कहा गया है और इस अवस्था को पाना ही वेदान्त का लक्ष्य है। हम साधारणतया अकर्म का अर्थ करते हैं निश्चेष्टता, पर यह हमारा आदर्श नहीं हो सकता। यदि यही होता तो हमारे चारों ओर की दीवालें भी परमज्ञानी होतीं, वे भी तो निश्चेष्ट हैं। मिट्टी के ढेले और पेड़ों के तनें भी जगत् के महातपस्वी गिने जाते, क्योंकि वे भी तो निश्चेष्ट हैं। और यह भी नहीं कि किसी भी तरह कामनायुक्त होकर किये जानेवाले कार्य कर्म कहलाए जा सकते। वेदान्त का आदर्श जो प्रकृत कर्म है वह अनन्त स्थिरता के साथ संयुक्त है। किसी भी प्रकार की परिस्थिति में

वह स्थिरता कभी नष्ट नहीं होती–– चित्त का वह साम्यभाव कभी भंग नहीं होता। हम लोग भी बहुत कुछ देखने-सुनने के बाद यही समझ पाये हैं कि कार्य करने के लिये इस प्रकार की मनोवृत्ति ही सबसे अधिक उपयोगी होती है।

लोगों ने मुझसे यह प्रश्न अनेक बार किया है कि हम कार्य के लिये जो एक प्रकार का आग्रह अनुभव करते हैं यदि वह न रहे तो हम कार्य कैसे करेंगे? मैं भी बहुत दिन पहले यही सोचता था, किन्तु जैसे जैसे मेरी आयु बढ़ रही है, जितनी अभिज्ञता बढ़ती जा रही है, उतना ही मैं देखता हूँ कि यह सत्य नहीं है। कार्य के भीतर जितनी कम कामना रहती है उतनी ही सुन्दरता के साथ उसे पूर्ण किया जा सकता है। हम लोग जितने अधिक शान्त होते हैं उतना ही हम लोगों का आत्मकल्याण होता है और हम काम भी अधिक अच्छी तरह कर पाते हैं। जब हम लोग भावनाओं के अधीन हो जाते हैं, तब अपनी शक्ति का विशेष अपव्यय करते हैं, अपनी स्नायुमण्डली को विकृत कर डालते हैं, मन को चंचल बना डालते हैं, किन्तु काम बहुत कम कर पाते हैं। जिस शक्ति का कार्यरूप में परिणत होना उचित था वह वृथा भावुकता-मात्र में पर्यवसित होकर क्षय हो जाती है। केवल जब मन खूब शान्त और स्थिर रहता है, तभी हम लोगों की समस्त शक्ति सत्कार्य में व्यय होती है। यदि तुम जगत् के बड़े बड़े कार्यकुशल व्यक्तियों की जीवनी पढ़ो तो देखोगे कि वे अद्‌भुत शान्त प्रकृति के लोग थे। कोई भी वस्तु उनके चित्त की स्थिरता भंग नहीं कर पाती थी। इसीलिये जो व्यक्ति बहुत जल्दी क्रोध में आ जाता है, वह कोई बहुत बड़ा काम नहीं कर पाता, और जो किसी प्रकार भी क्रोध

नहीं करता, वह सबसे अधिक काम कर सकता है। जो व्यक्ति क्रोध, घृणा आदि किसी शत्रु के वश में हो जाता है, वह अपने को खण्ड खण्ड कर डालता है और कभी एक बड़ा कर्मठ व्यक्ति नहीं बन पाता। केवल शान्त, क्षमाशील, स्थिरचित्त व्यक्ति ही सबसे अधिक काम कर पाता है।

वेदान्त आदर्श के सम्बन्ध में ही उपदेश देता है, और जिसे हम वास्तव अर्थात् बोधगम्य कहते हैं उससे आदर्श कहीं अधिक उच्च होता है, यह भी हम जानते हैं। हम लोगों के जीवन में दो प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। एक है अपने आदर्श को जीवनोपयोगी बनाना--अपने वर्तमान जीवन के स्तर पर उसे खींच लाना, और दूसरी है इसी जीवन को आदर्शोपयोगी बनाना अर्थात् आदर्श के अनुसार जीवन का गठन करना। इन दोनों का भेद भलीभाँति समझ लेना चाहिये-- कारण, अपने आदर्श को जीवनोपयोगी बनाते समय--अपने अनुसार बनाते समय--हम लोग प्राय: प्रलुब्ध हो जाते हैं। मैं सोचता हूँ कि मैं कोई विशेष प्रकार का कार्य कर सकता हूँ--शायद उसका अधिकांश ही बुरा है और उसके पीछे शायद क्रोध, घृणा अथवा स्वार्थपरता ही विद्यमान है। अब मानो किसी व्यक्ति ने मुझे किसी विशेष आदर्श के सम्बन्ध में उपदेश दिया--निश्चय ही उनका पहला उपदेश यही होगा की स्वार्थपरता तथा आत्मसुख का त्याग करो। मैं सोचता हूँ कि यह करना तो असम्भव है। किन्तु यदि किसी एक ऐसे आदर्श के सम्बन्ध में उपदेश दिया जो कि मेरी स्वार्थपरता और निम्न भावों का समर्थन करे तो मैं उसी समय कह उठता हूँ, 'यही है मेरा आदर्श' और मैं उसी आदर्श का अनुसरण करने के लिये व्यस्त हो जाता हूँ। इसी प्रकार 'शास्त्रीय' बात को लेकर लोग

आपस में झगड़ते रहते हैं और कहते हैं कि जो मैं समझता हूँ वही शास्त्रीय है, तथा जो तुम समझते हो वह अशास्त्रीय है। 'व्यवहार्य' (Practical) शब्द को लेकर भी ऐसा ही अनर्थ होता रहता है। जिस बात को मैं कार्यरूप में परिणत करने योग्य समझता हूँ, जगत् में एकमात्र वही व्यवहार्य है, ऐसी मेरी धारणा होती है। उदाहरणार्थ, यदि मैं एक दूकानदार हूँ तो सोचता हूँ कि संसार में दूकानदारी ही एकमात्र व्यावहारिक कर्म है। यदि मैं चोर हूँ तो चोरी के बारे में भी यही सोचता हूँ। आप लोग जानते ही हैं कि हम सब इस 'व्यवहार्य' शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं कर्मों के लिये करते हैं जिनकी ओर हमारी प्रवृत्ति है और जो हमसे किए जा सकते हैं। इसी कारण मैं तुम लोगों को यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यद्यपि वेदान्त पूर्ण रूप से व्यवहार्य है, तथापि साधारण अर्थ में नहीं, बल्कि आदर्श के दृष्टिकोण से। वेदान्त का आदर्श कितना ही उच्च क्यों न हो वह किसी असम्भव आदर्श को हमारे सामने नहीं रखता; और वास्तव में यही आदर्श ठीक ठीक आदर्श है। एक शब्द में इसका उपदेश है 'तत्त्वमसि' 'तुम्हीं वह ब्रह्म हो' और इसके समुदय उपदेश की अन्तिम परिणति यही है।

अनेक प्रकार के बौद्धिक वादविवाद के पश्चात् तुम्हें इसमें यही सिद्धान्त मिलेगा कि मानवात्मा शुद्धस्वभाव और सर्वज्ञ है। आत्मा के सम्बन्ध में जन्म अथवा मृत्यु की बात करना भी कोरी विडम्बना मात्र है। आत्मा का न कभी जन्म होता है, न मृत्यु; मैं मरूँगा अथवा मरने में डर लगता है यह सब केवल कुसंस्कार मात्र है। और मैं यह कर सकता हूँ, यह नहीं कर सकता, ये सब भी कुसंस्कार हैं। मैं सब कुछ कर सकता हूँ। वेदान्त सबसे

पहले मनुष्य को अपने ऊपर विश्वास करने के लिये कहता है। जिस प्रकार संसार का कोई कोई धर्म कहता है कि जो व्यक्ति अपने से अतिरिक्त सगुण ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता वह नास्तिक है, उसी प्रकार वेदान्त भी कहता है कि जो व्यक्ति अपने आप पर विश्वास नहीं करता वह नास्तिक है। अपनी आत्मा की महिमा में विश्वास न करने को ही वेदान्त में नास्तिकता कहते हैं। बहुत से लोग इसकी धारणा भी नहीं कर पाते, इसमें कोई सन्देह नहीं; और हम लोगों में से भी अधिकांश व्यक्ति यह सोचते हैं कि यह कभी अपरोक्ष ज्ञान का विषय नहीं होगा, किन्तु वेदान्त दृढ रूप से कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति ही इस सत्य को जीवन में प्रत्यक्ष कर सकता है। इस विषय में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं है, बालक-बालिका का भेद नहीं है, जातिभेद नहीं है--आबाल-वृद्ध-वनिता, जाति-धर्म-भेद के बिना ही, इस सत्य की उपलब्धि कर सकते हैं--कुछ भी इसका प्रतिबन्धक नहीं हो सकता, कारण, वेदान्त दिखा देता है कि वह सत्य पहले से ही अनुभूत है और पहले से ही वर्तमान भी है।

हममें ब्रह्माण्ड की समूची शक्ति पहले से ही है। हम लोग स्वयं ही अपने नेत्रों पर हाथ रखकर 'अन्धकार' 'अन्धकार' कहकर चीत्कार करते हैं। हाथ हटाने पर ही तुम देखोगे कि वहाँ प्रकाश पहले से ही वर्तमान था। अन्धकार कभी था ही नहीं, दुर्बलता कभी नहीं थी, हम लोग मूर्ख होने के कारण ही चिल्लाते हैं कि हम दुर्बल हैं, मूर्खतावश ही चिल्लाते हैं कि हम अपवित्र हैं। इस प्रकार वेदान्त, केवल 'आदर्श को कार्यान्वित किया जा सकता है,' यही नहीं कहता, किन्तु यह भी कहता है कि वह आदर्श हम लोगों को पहले से ही प्राप्त है;

और जिसे हम अब आदर्श कहते हैं वही हमारी प्रकृत सत्ता है—वही हम लोगों का स्वरूप है। और जो कुछ हम देखते हैं वह सम्पूर्ण मिथ्या है। जभी तुम कहते हो, 'मैं मर्त्य क्षुद्र जीव हूँ' तभी तुम झूठ बोलते हो; तुम मानो जादू के ज़ोर से अपने को असत्, दुर्बल, दुर्भागी बना डालते हो।

वेदान्त पाप स्वीकार नहीं करता, भ्रम स्वीकार करता है। और वेदान्त कहता है कि सबसे बड़ा भ्रम है—अपने को दुर्बल, पापी, हतभाग्य कहना—यह कहना कि मुझमें कुछ भी शक्ति नहीं है, मैं यह नहीं कर सकता आदि आदि। कारण, जब तुम इस प्रकार सोचने लगते हो तभी तुम मानो बन्धन-शृंखला को और भी दृढ कर लेते हो, अपनी आत्मा को पहले से और भी अधिक मायाजाल में फँसा लेते हो। अतएव जो कोई अपने को दुर्बल समझता है वह भ्रान्त है, जो अपने को अपवित्र मानता है वह भ्रान्त है; वह जगत् में एक असत् चिन्तन-धारा प्रवाहित करता है। यही सदा याद रखना चाहिए कि वेदान्त में हमारे इस वर्तमान मायामय जीवन का—इस मिथ्या जीवन का, जिसमें आदर्श के साथ मिल जाने की कोई चेष्टा नहीं है—परित्याग करने के लिये कहा गया है और ऐसा होने पर ही उसके पीछे जो सत्य-जीवन सदा वर्तमान है, वह प्रकाशित होगा। यह नहीं कि जो मनुष्य पहले अपेक्षाकृत कम पवित्र था वह उससे भी अधिक पवित्र हो गया, किन्तु वास्तव में वह पहले से ही पूर्ण शुद्ध है—उसका वही पूर्ण शुद्ध स्वभाव धीरे धीरे प्रकाशित होता है। आवरण हटता जाता है और आत्मा की स्वाभाविक पवित्रता प्रकाशित होने लगती है। यह अनन्त पवित्रता, मुक्त स्वभाव, प्रेम और ऐश्वर्य पहले से ही हम लोगों में विद्यमान है।

वेदान्ती यह भी कहते हैं कि ऐसा नहीं कि यह केवल वन अथवा पहाड़ी गुफाओं में उपलब्ध हो सकता हो, वरन् हम यह देख ही चुके हैं कि पहले जिन लोगों ने इस सत्यसमूह का आविष्कार किया था वे वन अथवा पहाड़ी गुफाओं में नहीं रहते थे, साथ ही वे सामान्य मनुष्य भी नहीं थे, वरन् वे लोग ऐसे थे (हम लोगों के इस विश्वास का विशेष कारण है) जो विशेष रूप से कर्मठ जीवन बिताते थे, जिन्हें सैन्य-परिचालन करना पड़ता था, जिन्हें सिंहासन पर बैठकर प्रजावर्ग का हानि-लाभ देखना होता था। इसके अतिरिक्त उस समय राजागण ही सर्वेसर्वा थे--आजकल जैसे कठपुतली नहीं। फिर भी वे लोग इन सब तत्त्वों का चिन्तन करने तथा उनको जीवन में परिणत करने और मानव जाति को शिक्षा देने का समय निकाल लेते थे। अतएव उनकी अपेक्षा हम लोगों को इन सब तत्त्वों का अनुभव होना तो और भी सहज है, क्योंकि हमारा जीवन उन लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक कर्महीन है। अत: हम लोगों को जब इतना कम काम-काज है और हम जब उनकी अपेक्षा अधिक स्वाधीन हैं तो हम लोगों का इस पूर्ण सत्य का अनुभव न कर सकना बड़ी लज्जाजनक बात है। पुरातन सर्वेसर्वा सम्राटों के अभाव की तुलना में हमारा अभाव तो कुछ भी नहीं। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अवस्थित कई अक्षौहिणी सेना के परिचालक अर्जुन का जितना अभाव था, हमारा अभाव उनकी तुलना में नगण्य है, तब भी इस युद्ध-कोलाहल के बीच में भी वे उच्चतम दर्शन को सुनने और उसे कार्यान्वित करने को समय पा सके--इसलिये हमारे इस अपेक्षाकृत स्वाधीन आराममय जीवन में भी यह करना सम्भव और उचित है। हम लोग यदि ठीक प्रकार

से समय बिताएँ तो हम देखेंगे कि हम जितना सोचते और समझते हैं उससे हम लोगों में से अनेक के पास अधिक समय है। हम लोगों को जितना अवकाश है, उसमें यदि हम सचमुच चाहें तो एक नहीं पचास आदर्शों का अनुसरण कर सकते हैं, किन्तु आदर्श को हमें कभी नीचा नहीं करना चाहिए। इसी में हमारे जीवन की सबसे बड़ी विपत्ति की आशंका है। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो हमारे व्यर्थ अभावों और वासनाओं के लिये अनेक प्रकार के वृथा कारण दिखाते हैं और हम लोग भी यही सोचते हैं कि हम लोगों का इससे बड़ा और कोई आदर्श नहीं है, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। वेदान्त इस प्रकार की शिक्षा कभी नहीं देता। प्रत्यक्ष जीवन को आदर्श के साथ एक करना पड़ेगा––वर्तमान जीवन को अनन्त जीवन के साथ एक-रूप करना होगा। कारण, तुम्हें सदा स्मरण रखना होगा कि वेदान्त का मूल सिद्धान्त यह एकत्व अथवा अखण्ड भाव है। द्वित्व कहीं नहीं है, दो प्रकार का जीवन अथवा जगत् भी नहीं है। तुम लोग देखोगे कि वेद पहले स्वर्गादि के विषय में कहते हैं, किन्तु अन्त में जब वे अपने दर्शन के उच्चतम आदर्श के विषय में कहना आरम्भ करते हैं तो वे उन सब बातों को बिल्कुल त्याग देते हैं। एकमात्र जीवन है, एकमात्र जगत् है, एकमात्र अस्तित्व है। सब कुछ वही एक सत्तामात्र है; भेद केवल परिमाण का है, प्रकार का नहीं। भिन्न भिन्न जीवन के बीच में भेद प्रकार-गत नहीं है। वेदान्त इस बात को बिल्कुल नहीं मानता कि पशुगण मनुष्यों से सम्पपूर्णतया पृथक् हैं और उन्हें ईश्वर ने हमारे भोज्यरूप में बनाया है।

कुछ व्यक्तियों ने दयावश जीवित-व्यवच्छेद-निवारणी-सभा

(anti-vivisection society) स्थापित की है। मैंने एक दिन इस सभा के एक सदस्य से पूछा, "भाई, आप भोजन के लिये पशुहत्या को सम्पूर्णतया न्यायसंगत मानते हैं, किन्तु वैज्ञानिक परीक्षा के लिये दो-एक पशुओं की हत्या के इतने विरुद्ध क्यों हैं?" उसने उत्तर दिया, "जीवित की चीरफाड़ बहुत भयानक कार्य है, किन्तु पशुगण हमारे भोजनार्थ ही बनाये गये हैं।" कैसी अज़ीब बात है! वास्तव में पशुगण भी तो उसी अखण्ड सत्ता के अंशरूप हैं। यदि मनुष्य का जीवन अनन्त है तो पशु-जीवन भी उसी प्रकार है। प्रभेद केवल परिमाणगत है, प्रकारगत नहीं; हम जिस प्रकार के हैं, क्षुद्र जीवाणु भी उसी प्रकार के हैं—प्रभेद केवल परिमाणगत है। और उस सर्वोच्च सत्ता की दृष्टि से देखने पर यह प्रभेद भी नहीं देखा जाता। मनुष्य एक तिनके और पौधे में बहुत प्रभेद देख सकता है, किन्तु यदि तुम खूब ऊँचे चढ़कर देखो तो यह तिनका तथा एक बड़ा वृक्ष दोनों ही समान दिखेंगे। इसी प्रकार उस उच्चतम सत्ता के दृष्टिकोण से ये सभी समान हैं—और यदि आप एक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं तो आपको पशुओं से लेकर उच्चतम प्राणी तक समत्व मानना पड़ेगा; नहीं तो भगवान एक महापक्षपाती व्यक्ति बन जायेंगे। जो भगवान अपनी मनुष्य-सन्तान के प्रति इतने पक्षपाती हैं और पशु नामक अपनी सन्तान के प्रति इतने निर्दय हैं, वे तो फिर दानवों से भी अधम हुए। इस प्रकार के ईश्वर की उपासना करने की अपेक्षा मुझे सैकड़ों बार मरना भी पसन्द है। मेरा समस्त ज़ीवन इस प्रकार के ईश्वर के विरुद्ध युद्ध में ही बीतेगा। किन्तु वास्तविक ईश्वर ऐसे नहीं हैं। जो लोग ऐसा कहते हैं, वे नहीं जानते कि वे दायित्व-बोधहीन और

हृदयहीन व्यक्ति हैं; वे क्या कर रहे हैं, यह नहीं जानते। यहाँ फिर 'व्यावहारिकता' शब्द गलत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वास्तविक बात यह है कि हम खाना चाहते हैं, इसलिये खाते रहते हैं। मैं स्वयं एक शाकाहारी न भी होऊँ, किन्तु मैं शाकाहार का आदर्श समझता हूँ। जब मैं मांस खाता हूँ, तब जानता हूँ कि यह ठीक नहीं है। घटनाविशेष के कारण उसे खाने को बाध्य होने पर भी मैं यह जानता हूँ कि यह समुचित नहीं। आदर्श नीचा करके अपनी दुर्बलता का समर्थन मुझे नहीं करना चाहिए। आदर्श यही है--मांस न खाया जाय; किसी भी प्राणी का अनिष्ट न किया जाय, क्योंकि पशुगण भी हमारे भाई हैं--बिल्ली और कुत्ते भी हमारे भाई हैं। यदि उन्हें इस प्रकार से सोच सकते हो तो तुम सब प्राणियों में भ्रातृभाव की ओर बहुत कुछ अग्रसर हो गये--केवल मनुष्यजाति के प्रति भाईचारा चिल्लाना वृथा है : तुम संसार में देखोगे कि इस प्रकार का उपदेश बहुत लोग पसन्द नहीं करते, क्योंकि उन्हें वास्तव को छोड़कर आदर्श की ओर जाने के लिये कहा जाता है। किन्तु यदि तुम एक ऐसी बात कहो जिससे उनके वर्तमान कार्य का--वर्तमान आचरण का समर्थन होता हो तो वे कहेंगे, यही 'व्यावहारिक' है।

मनुष्यस्वभाव में बहुत भारी रक्षणशील प्रवृत्ति दीख पड़ती है। हम लोग सामने एक कदम भी नहीं बढ़ना चाहते। जिस प्रकार बर्फ में जमे व्यक्तियों के सम्बन्ध में पढ़ा जाता है वैसा ही मनुष्य जाति के बारे में भी कहा जा सकता है। सुना जाता है कि इस अवस्था में आदमी सोना चाहता है। यदि उसे कोई खींचकर उठाना चाहता है तो वह कहता है, 'मुझे सोने दो--बर्फ में सोने से बड़ा आराम मिलता है!' उसकी वही

निद्रा महानिद्रा हो जाती है। हम लोगों का स्वभाव भी ऐसा ही है। हम लोग भी सारा जीवन यही कर रहे हैं--सिर से लेकर पैर तक समूचे बर्फ में जमे जा रहे हैं तो भी हम लोग सोना चाहते हैं। अतएव सदा आदर्श अवस्था में पहुँचने का प्रयत्न करो और यदि कोई व्यक्ति आदर्श को तुम्हारी निम्न भूमि में खींच लाये, यदि कोई तुम्हें ऐसा धर्म सिखाये जो कि उच्चतम आदर्श की शिक्षा नहीं देता, तो उसकी बात कानों में भी न जाने दो। इस प्रकार का धर्माचरण मेरे द्वारा असम्भव है, किन्तु यदि कोई मुझे ऐसा धर्म सिखाये जो कि जीवन का सर्वोच्च आदर्श दर्शाता है, तो मैं उसकी बातें सुनने के लिये प्रस्तुत हूँ। इस विषय में खूब सावधान रहना चाहिए। जब कभी कोई व्यक्ति किसी प्रकार की दुर्बलता को पुष्ट करने का प्रयत्न करे तभी विशेष सावधान होने की आवश्यकता है। एक तो हम अपने को इन्द्रियजाल में फँसाकर एकदम निकम्मे बन जाते हैं, उस पर भी यदि कोई आकर हमे उस प्रकार की शिक्षा दे और यदि हम उस उपदेश का अनुसरण करें तो हम कुछ भी उन्नति नहीं कर सकते। मैंने ऐसी बातें बहुत देखी हैं, जगत् के सम्बन्ध में मुझे कुछ ज्ञान है, और हमारे देश में अनेक धर्म, सम्प्रदाय रक्तबीज के समान बढ़ते रहते हैं। प्रति वर्ष नये नये सम्प्रदाय जन्म लेते हैं। किन्तु एक बात मैंने विशेष रूप से देखी है कि जो सम्प्रदाय संसार और धर्म को एक साथ मिलाने की चेष्टा नहीं करते वे ही उन्नति करते हैं और जहाँ परमोच्च आदर्श का झूठी सांसारिक वासनाओं के साथ सामञ्जस्य करने की--ईश्वर को मनुष्य के स्तर पर खींच लाने की चेष्टा रहती है, वहीं रोग घुस पड़ता है। मनुष्य जहाँ पड़ा है वहीं पड़े रहने

से काम नहीं चलेगा--उसे ईश्वर होना पड़ेगा।

इस प्रश्न का एक और पहलू है। हमें दूसरों को घृणित दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। हम सभी उसी एक लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। दुर्बलता और सबलता में केवल परिमाणगत भेद है। प्रकाश और अन्धकार में भेद केवल परिमाणगत--पाप और पुण्य के बीच भी भेद केवल परिमाणगत--जीवन और मृत्यु के बीच में भेद केवल परिमाणगत, एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद केवल परिमाणगत ही है, प्रकारगत नहीं; कारण, वास्तव में सभी वस्तुएँ वही एक अखण्ड वस्तु मात्र हैं। सभी एक हैं, चाहे चिन्तन-रूप हो, जीवन-रूप हो, आत्मरूप हो, सभी एक हैं--प्रभेद केवल परिमाण और मात्रा के तारतम्य में है। जो किसी कारणवश हमारे समान उन्नति नहीं कर पाये उनके प्रति घृणा करना ठीक नहीं है। किसी की भी निन्दा मत करो। किसी की सहायता कर सकते हो तो करो, नहीं कर सकते हो तो चुपचाप बैठे रहो, उन्हें आशीर्वाद दो, अपने रास्ते जाने दो। गाली देने अथवा निन्दा करने से कोई उन्नति नहीं होती। इस प्रकार से कभी किसी की उन्नति नहीं होती। दूसरे की निन्दा करने से केवल शक्ति-क्षय होता है। समालोचना और निन्दा हम लोगों के वृथा व्यर्थ शक्ति-क्षय का उपाय-मात्र है, और अन्त में हम देखते हैं कि दूसरा जिस लक्ष्य की ओर जा रहा है, हम भी उसी ओर जा रहे हैं। हम लोगों में से अधिकांश का मतभेद केवल भाषा का भेद मात्र है।

उदाहरणार्थ 'पाप' की बात लो। वेदान्त की पाप की धारणा तथा यह साधारण धारणा कि मनुष्य पापी है--दोनों वास्तव में एक ही बात हैं। दूसरी 'नहीं' की दिशा में है

और वेदान्त की 'हाँ' की दिशा में। एक, मनुष्य को उसकी दुर्बलता दिखा देती है और दूसरी कहती है, दुर्बलता हो सकती है किन्तु उस ओर ध्यान नहीं देना--हम लोगों को उन्नति करनी है। जब मनुष्य पहले-पहल जन्मा तभी उसका रोग क्या है, जान लिया गया। सभी अपना अपना रोग जानते हैं--किसी दूसरे को कहना नहीं पड़ता। हम लोग बाह्य जगत् के सामने भले ही कपटाचरण करें, परन्तु अपने अन्दर ही अन्दर हम अपनी दुर्बलता जानते हैं। किन्तु वेदान्त कहता है, केवल दुर्बलता स्मरण कराने से अधिक उपकार नहीं होगा--उसका उपचार करो। यह कहते रहना कि 'मैं रोगग्रस्त हूँ' रोग की औषध या उपचार नहीं है। मनुष्य को सदैव उसकी दुर्बलता की याद कराते रहना उसकी दुर्बलता का प्रतीकार नहीं है--बल्कि उसे अपने बल का स्मरण करा देना ही उसके प्रतीकार का उपाय है। उसमें जो बल पहले से ही विद्यमान है उसका उसे स्मरण कराओ। मनुष्य को पापी न बतलाकर वेदान्त ठीक उसका विपरीत मार्ग ग्रहण करता है और कहता है, "तुम पूर्ण और शुद्धस्वरूप हो और जिसे तुम पाप कहते हो वह तुममें नहीं है।" जिसे तुम 'पाप' कहते थे वह तुम्हारा निम्नतम प्रकाश है; अगर कर सको तो अपने को उच्चतर भाव में प्रकाशित करो। एक बात हम सबको सदैव याद रखनी चाहिए और वह यह कि हम सब कुछ कर सकते हैं। कभी 'नहीं' मत कहना, 'मैं नहीं कर सकता' यह कभी न कहना। ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि तुम अनन्तस्वरूप हो। तुम्हारे स्वरूप की तुलना में देश-काल भी कुछ नहीं हैं। तुम्हारी ज़ो इच्छा होगी वही कर सकते हो, तुम सर्वशक्तिमान हो।

अब तक जो कुछ कहा गया है, अवश्य वह केवल नीति का

मूल सूत्र है। हमें सिद्धान्त की कोटि से उतरकर जीवन की विशेष विशेष अवस्थाओं में इसका प्रयोग करना पड़ेगा। हमें देखना होगा कि किस प्रकार यह वेदान्त हमारे दैनिक जीवन में, नागरिक जीवन में, ग्राम्य जीवन में, प्रत्येक जाति के जीवन में, प्रत्येक जाति के घरेलू कामकाजों में परिणत किया जा सकता है। कारण, यदि धर्म मनुष्य को प्रत्येक अवस्था में सहायता नहीं दे सकता तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं--फिर तो वह केवल कुछ व्यक्तियों के लिये मतवाद मात्र ही हुआ। धर्म यदि समग्र मानव जाति का कल्याण करना चाहता है तो वह इस प्रकार का होना उचित है कि मनुष्य हर समय उसका सहारा ले सके--गुलामी हो या अज़ादी, महा अपवित्रता हो या अत्यन्त पवित्रता, सभी समय वह मानवजाति की समान भाव से सहायता कर सके। केवल तभी वेदान्त के सब तत्त्व अथवा धर्म के सब आदर्श--उन्हें आप किसी भी नाम से पुकारिये--काम में आ सकेंगे।

आत्मविश्वासरूप आदर्श ही मानवजाति के लिए सबसे अधिक कल्याणप्रद हो सकता है। यदि इस आत्मविश्वास का और भी विस्तृत रूप से प्रचार होता और वह कार्यरूप में परिणत हो जाता तो मेरा दृढ विश्वास है कि जगत् में जितना दुःख-कष्ट है उसका अधिकांश कट जाता। समग्र मानवजाति के इतिहास में सभी श्रेष्ठ नर-नारियों के बीच में यदि कोई भावविशेष फलीभूत हुआ है तो वह है यही आत्मविश्वास--वे इस ज्ञान के साथ पैदा हुए थे कि वे श्रेष्ठ बनेंगे और वे बने भी। मनुष्य कितनी ही अवनति की अवस्था में क्यों न हो, एक समय ऐसा अवश्य आता है जब उसे इस अवस्था से विरक्त होकर उन्नति

की चेष्टा करनी पड़ती है। उस समय वह अपने ऊपर विश्वास करना सीखता है। किन्तु हम लोगों को इसे शुरू से ही जान लेना अच्छा है। हम आत्मविश्वास सीखने के लिये इतना क्यों घूमते फिरें? मनुष्य-मनुष्य के बीच जो भेद है वह केवल आत्मविश्वास की उपस्थिति तथा अभाव के कारण ही है, यह थोड़ी खोज करने से ही समझ में आ सकता है। इस आत्म-विश्वास के द्वारा सब कुछ हो सकता है। मैंने अपने ज़ीवन में ही इसे देखा है और अभी भी देखता हूँ, और जितनी आयु बढ़ती जा रही है उतना ही यह विश्वास दृढतर होता जा रहा है। जिसमें आत्मविश्वास नहीं है वही नास्तिक है। प्राचीन धर्म में कहा गया है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता वह नास्तिक है। नूतन धर्म कहता है, जो आत्मविश्वास नहीं रखता वही नास्तिक है। किन्तु यह विश्वास केवल इस क्षुद्र 'मैं' को लेकर नहीं है, कारण, वेदान्त एकत्ववाद की भी शिक्षा देता है। इस विश्वास का अर्थ है––सबके प्रति विश्वास, कारण, तुम सभी शुद्धस्वरूप हो। आत्मप्रीति का अर्थ है सब प्राणियों में प्रीति, समस्त पशुपक्षियों में प्रीति, सब वस्तुओं में प्रीति––क्योंकि तुम उनसे भिन्न तो नहीं हो। इस महान् विश्वास के बल पर ही समस्त जगत् की उन्नति होगी। यही मेरी ध्रुव धारणा है। वही सर्वश्रेष्ठ मनुष्य है जो साहस के साथ कह सकता है, मैं अपने सम्बन्ध में सब कुछ जानता हूँ; क्या तुम लोग जानते हो कि तुम्हारी इसी देह के भीतर कितनी शक्ति, कितनी क्षमता अब भी छिपी पड़ी है? किस वैज्ञानिक ने मनुष्य के अन्दर जो जो वस्तुएँ छिपी पड़ी हैं, उन सबका ज्ञान प्राप्त किया है? लाखों वर्षों से मनुष्य पृथ्वी पर रहता है, किन्तु अभी तक उसकी शक्ति

का अति सामान्य अंश ही प्रकाशित हुआ है। अतएव तुम कैसे अपने को जबरदस्ती दुर्बल कहते हो ? ऊपर से दिखनेवाली इस अवनति के पीछे क्या है, क्या तुम यह जानते हो ? तुम्हारे अन्दर क्या है, क्या तुम जानते हो ? तुम्हारे पीछे है शक्ति और आनन्द का अपार सागर।

"आत्मा वा अरे श्रोतव्य:"--इस आत्मा के बारे में पहले सुनना चाहिए। दिनरात श्रवण करो कि तुम्हीं वह आत्मा हो। दिनरात यही भाव तुम्हें व्याप्त किए रहे जब तक कि वह तुम्हारे रक्त के प्रत्येक बूंद में और तुम्हारी प्रत्येक नस-नस में न समा जाय। सम्पूर्ण शरीर को इसी एक आदर्श के भाव से पूर्ण कर दो--"मैं अज, अविनाशी, आनन्दमय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान नित्य ज्योतिर्मय आत्मा हूँ"--दिनरात यही चिन्ता करते रहो जब तक कि यह भाव तुम्हारे प्राणों में भिद नहीं जाता। इसीका ध्यान करते रहो--इस भाव में विभोर होने पर ही तुम प्रकृत कर्म करने में समर्थ हो सकोगे। 'हृदय पूर्ण होने पर मुँह बात करता है--हृदय पूर्ण होने पर हाथ भी काम करते हैं।' अतएव इस प्रकार की अवस्था में ही यथार्थ कार्य सम्पूर्ण हो सकेगा। अपने को इस आदर्श के भाव से ओतप्रोत कर डालो--जो कुछ करो पहले उसके सम्बन्ध में उत्तम रूप से सोचो। तब इस चिन्ताशक्ति के प्रभाव से तुम्हारे सम्पूर्ण कर्म परिवर्तित होकर उन्नत देवभावापन्न हो जायेंगे। अगर 'जड़' शक्तिशाली है तो 'विचार' सर्वशक्तिमान है। उसी विचार, उसी ध्यान को लेकर अपने को सर्वशक्तिमत्ता और महत्त्व के भाव से पूर्ण बना लो। ईश्वरेच्छा से यदि कुसंस्कारपूर्ण भाव तुम्हारे अन्दर प्रवेश न कर पाते तो अच्छा होता। ईश्वरकृपा से यदि हम लोग इस

कुसंस्कार के प्रभाव तथा दुर्बलता और नीचता के भाव से परिवेष्टित न होते तो कैसा अच्छा होता! ईश्वरेच्छा से यदि मनुष्य अपेक्षाकृत सहज उपाय द्वारा उच्चतम, महत्तम सत्य-समुदाय में पहुँच सकता तो कैसा अच्छा होता! किन्तु उसे इन सबमें से होकर ही जाना पड़ता है; जो लोग तुम्हारे पीछे आ रहे हैं, उनके लिये रास्ता अधिक दुर्गम न बनाओ।

ये सब बातें मनुष्य को प्रायः भयानक प्रतीत होती हैं। मैं जानता हूँ, बहुत से लोग ये सब उपदेश सुनकर भयभीत हो जाते हैं, किन्तु जो वास्तविक अभ्यास करना चाहते हैं उनके लिये यही पहला अभ्यास है। अपने को अथवा दूसरे को कभी दुर्बल मत कहना। यदि कर सको तो मनुष्य का कल्याण करो, पर किसी का अनिष्ट न करो। अपने हृदय के अन्दर से यह समझ लो कि तुम्हारे ये क्षुद्र क्षुद्र भाव एवं काल्पनिक पुरुषों के सामने घुटने टेककर तुम्हारा रोना या प्रार्थना करना केवल कुसंस्कार है। मुझे एक ऐसा उदाहरण बताओ जहाँ बाहर से इन प्रार्थनाओं का उत्तर मिला हो। जो भी उत्तर पाते हो वह अपने हृदय से ही। तुम लोगों में से बहुतों का विश्वास है कि भूत नहीं है, किन्तु अन्धकार में जाते ही तुम लोगों का शरीर कुछ काँप-सा जाता है। इसका कारण यह है कि बिल्कुल बचपन से ही हम लोगों के सिर में यह सब भय घुसा दिया गया है। किन्तु हमें यह अभ्यास करना पड़ेगा कि समाज का भय, संसार के कहने-सुनने का भय, बन्धु-बान्धवों की घृणा का भय, कुसंस्कार नष्ट होने का भय—यह सब हम दूसरों के मस्तिष्क में नहीं घुसाएँगे। इस प्रवृत्ति को जीत लो। धर्म के विषय में और क्या सिखाना है? केवल विश्वब्रह्माण्ड का एकत्व और

आत्मविश्वास।

शिक्षा केवल इतनी ही देनी है। लाखों साल से मनुष्य यही चेष्टा करता आ रहा है और अभी भी कर रहा है। तुम लोग भी यही शिक्षा देते हो, यह हम जानते हैं। सब ओर से हम यही शिक्षा पाते हैं। केवल दर्शन और मनोविज्ञान ही नहीं, जड़ विज्ञान भी यही घोषणा करता है। क्या ऐसा एक वैज्ञानिक दिखा सकते हो जो आज जगत् का एकत्ववाद अस्वीकृत कर दे? आज कौन जगत् के अनेकत्ववाद के प्रचार का साहस कर सकता है? यह सब कुसंस्कार मात्र है। केवल प्राण ही विद्यमान है, एक ही जगत् विद्यमान है और वही हम लोगों के सामने अनेकवत् प्रतीत होता है, जिस प्रकार स्वप्न देखते समय एक के बाद दूसरा स्वप्न आता है। स्वप्न में जो देखा जाता है वह सत्य तो नहीं है। एक स्वप्न के बाद दूसरा स्वप्न दिखाई पड़ता है—विभिन्न दृश्य तुम्हारी आँखों के सामने उद्भासित होते रहते हैं। इसी प्रकार इस जगत् के सम्बन्ध में भी है। इस समय यह पन्द्रह आने दुःखरूप और एक आना सुखरूप जान पड़ता है। शायद कुछ दिन बाद ही यह पन्द्रह आने सुखरूप प्रतीत होगा—तब हम इसे स्वर्ग कहेंगे। किन्तु सिद्ध होने पर उसकी एक ऐसी अवस्था आएगी जब यह सम्पूर्ण जगत्-प्रपञ्च हम लोगों के सामने से अन्तर्हित हो जायगा—वह ब्रह्मरूप में प्रतीत होगा और हमें आत्मा का भी ब्रह्मरूप में अनुभव होगा। अतएव लोक अनेक नहीं हैं, जीवन अनेक नही हैं। यह बहुत्व उस एकत्व का ही विकास मात्र है। केवल वह 'एक' ही अपने को बहुरूप में प्रकाशित कर रहा है—जड़ अथवा चेतन में, मन या चिन्तन-शक्ति में अथवा अन्य किसी भी रूप

में । अतएव हम लोगों का प्रथम कर्तव्य है--इस तत्त्व की अपने को तथा दूसरों को शिक्षा देना ।

जगत् इस महान् आदर्श की घोषणा से प्रतिध्वनित हो--सब कुसंस्कार दूर हों। दुर्बल मनुष्यों को यही सुनाते रहो--लगातार सुनाते रहो--'तुम शुद्धस्वरूप हो, उठो, जाग्रत हो जाओ। हे महान्, यह नींद तुम्हें शोभा नहीं देती। उठो, यह मोह तुम्हें भाता नहीं। तुम अपने को दुर्बल और दुःखी समझते हो ? हे सर्वशक्तिमान, उठो, जाग्रत होओ, अपना स्वरूप प्रकाशित करो। तुम अपने को पापी समझते हो, वह तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम अपने को दुर्बल समझते हो, यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है।' जगत् से यही कहते रहो, अपने से यही कहते रहो--देखो, इसका क्या शुभ-फल होता है, देखो, कैसी बिजली जैसी शक्ति से सम्पूर्ण तत्त्व प्रकाशित होता है, और सब कुछ कैसे परिवर्तित हो जाता है। मनुष्य-जाति से यही कहते रहो--उसे उसकी शक्ति दिखा दो। ऐसा होने से हीं हमारे दैनिक जीवन में उसका फल मिलता रहेगा।

जिसे हम विवेक या सदसत्-विचार कहते हैं उसका अपने जीवन के प्रतिक्षण में एवं प्रत्येक कार्य में उपयोग करने की क्षमता प्राप्त करने के लिये हमें सत्य की कसौटी जान लेनी चाहिये--और वह है पवित्रता तथा एकत्व का ज्ञान। जिससे एकत्व हो, जिससे मिलन हो, वही सत्य है। प्रेम सत्य है क्योंकि वह मिलन-सम्पादक है; घृणा असत्य है, क्योंकि वह बहुत्व-विधायक--पृथक्कारक है। घृणा ही तुमसे मुझे पृथक् करती है--अतएव वह अन्याय और असत्य है; यह एक विना-

शिनी शक्ति है; यह अलग अलग करती है—नाश करती है।

प्रेम मिलाता है, प्रेम एकत्व स्थापित करता है। सभी एक हो जाते हैं—माँ सन्तान के साथ एकत्व प्राप्त करती है, परिवार नगर के साथ एकत्व प्राप्त करता है, यहाँ तक कि सम्पूर्ण जगत् ही पशु-पक्षियों के साथ एकीभूत हो जाता है, क्योंकि प्रेम ही वास्तविक अस्तित्व है, प्रेम ही स्वयं भगवान है और यह सभी कुछ प्रेम का ही विभिन्न विकास है—प्रेम ही स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से प्रकाशित है। प्रभेद केवल मात्रा के तारतम्य में है, किन्तु वास्तव में सभी कुछ प्रेम का ही प्रकट रूप है। अतएव हम लोगों को यह देखना चाहिए कि हमारे कर्म बहुत्व-विधायक हैं अथवा एकत्व-सम्पादक। यदि वे बहुत्व-विधायक हैं तो उनका त्याग करना होगा और यदि वे एकत्व-सम्पादक हैं तो उन्हें सत्कर्म समझना चाहिए। इसी प्रकार चिन्ता के सम्बन्ध में भी सोचना चाहिए। देखना चाहिए कि वह बहुत्व-विधायक है या एकत्व-सम्पादक; पहचानना चाहिए कि वह आत्मा को आत्मा से मिलाकर एक महान् शक्ति उत्पन्न करती है या नहीं। यदि करती है तो ऐसी चिन्ता का पोषण करना चाहिए—यदि नहीं करती तो उसको पापचिन्ता कहकर उसका परित्याग करना पड़ेगा।

वैदान्तिक नीति-विज्ञान का सार यही है—वह किसी अज्ञेय वस्तु के ऊपर निर्भर नहीं है अथवा वह कुछ अज्ञेय भी नहीं सिखाता है, किन्तु सेन्ट पॉल ने जिस प्रकार रोमवासियों से कहा था उस प्रकार कहता है, "जिसे तुम अज्ञेय मानकर उपासना करते हो मैं उसी के सम्बन्ध में तुम्हें शिक्षा दे रहा हूँ।" मैं इस कुर्सी का ज्ञान पा रहा हूँ किन्तु इस कुर्सी को

जानने से पहिले मुझे अपने 'मैं' का ज्ञान होता है, उसके बाद कुर्सी का। इस आत्मा के द्वारा ही इस कुर्सी का ज्ञान होता है। इस आत्मा के द्वारा ही मैं तुम्हारा ज्ञान पाता हूँ-- सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान पाता हूँ। अतएव आत्मा को अज्ञात कहना केवल प्रलाप है। आत्मा को हटा लो, सम्पूर्ण जगत् ही उठ जायगा--आत्मा के द्वारा ही सम्पूर्ण ज्ञान होता है--अतएव यही सबसे अधिक ज्ञात है। यही 'तुम' हो जिसको तुम 'मैं' कहते हो। तुम लोग यह सोचकर आश्चर्य करते हो कि मेरा 'मैं' भला तुम्हारा 'मैं' कैसे हो सकता है; तुम्हें आश्चर्य होता है कि यह सान्त 'मैं' किस प्रकार अनन्त असीमस्वरूप हो सकता है? किन्तु वास्तव में यही बात सत्य है। सान्त 'मैं' केवल भ्रम मात्र है, गल्पकथा मात्र है। उसी अनन्त के ऊपर मानो एक आवरण पड़ा हुआ है और उसका कुछ अंश इस 'मैं' रूप में प्रकाशित हो रहा है, किन्तु वास्तव में वह उसी अनन्त का अंश है। यथार्थ में असीम कभी ससीम नहीं होता--'ससीम' केवल बात की बात है। अतएव यह आत्मा नर-नारी, बालक-बालिका, यहाँ तक कि पशु-पक्षी सभी को ज्ञात है। उसको बिना जाने हम क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकते। उस सर्वेश्वर प्रभु को बिना जाने हम लोग एक क्षण भी श्वास-प्रश्वास तक नहीं ले सकते, हम लोगों की गति, शक्ति, चिन्ता, जीवन सब कुछ उसीके द्वारा परिचालित होता है। वेदान्त का ईश्वर सब चीजों की अपेक्षा अधिक ज्ञात है; वह कभी कल्पनाप्रसूत नहीं है।

यदि यह प्रत्यक्ष ईश्वर नहीं है तो फिर और प्रत्यक्ष ईश्वर कौन हो सकता है?--ईश्वर, जो सब प्राणियों में विराजमान

है, हमारी इन्द्रियों से भी अधिक सत्य है ? मैं जिन्हें सम्मुख देख रहा हूँ, उनसे भी अधिक प्रत्यक्ष ईश्वर और क्या देखना चाहते हो ? कारण, तुम्हीं वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान ईश्वर हो, और यदि यह कहूँ कि तुम वह नहीं हो तो मैं झूठ बोलता हूँ। सारे समय मैं इसकी अनुभूति करूँ या न करूँ, फ़िर भी वह सत्य ही है। वे ही एक अखण्ड वस्तुस्वरूप, सर्व वस्तुओं के सम्मिलनस्वरूप, सम्पूर्ण प्राणी और सम्पूर्ण अस्तित्व के सत्यस्वरूप हैं।

वेदान्त का यह सब नीतितत्त्व और भी विस्तारित भाव से कहना पड़ेगा। अतएव थोड़ा सा धैर्य रखना आवश्यक है। पहले ही कह चुका हूँ, हम लोगों को इसकी विस्तृत आलोचना करनी पड़ेगी—विशेष रूप से, जीवन की प्रत्यक्ष घटना में किस प्रकार उसे कार्य में परिणत किया जाय, यह विचार करना है और यह भी देखना है कि किस प्रकार यह आदर्श निम्नतर आदर्शसमूह से क्रमशः विकसित हो रहा है, किस प्रकार इस एकत्व का आदर्श धीरे धीरे विकसित होकर क्रमशः सार्वजनीन प्रेम-रूप में परिणत हो रहा है। और इन सब तत्त्वों की आलोचना से हमारा यह उपकार होगा कि हम अनेक प्रकार के भ्रमों में नहीं पड़ेंगे। प्रश्न यह है कि सारी दुनिया तो धीरे धीरे निम्नतम आदर्श से ऊपर उठने के लिये रुकी नहीं रह सकती; हमारे ऊँचे सोपान पर चढ़ने का फल ही क्या, यदि हम यह सत्य अपनी आनेवाली पीढ़ियों को न दे सकें ? इसलिये इसकी आलोचना हमें विशेष रूप से विस्तारपूर्वक करनी होगी, और प्रथमतः उसका ज्ञान भाग—विचारांश—विशेष रूप से समझना आवश्यक है, यद्यपि हम जानते हैं कि विचार का विशेष मूल्य नहीं, हृदय की ही

सबसे बड़ी आवश्यकता है। हृदय के द्वारा भगवत्साक्षात्कार होता है, बुद्धि के द्वारा नहीं। बुद्धि केवल जमादार के समान रास्ता साफ कर देती है--वह गौण भाव से हम लोगों की उन्नति की सहायक हो सकती है। बुद्धि पुलिस के समान है--किन्तु समाज के सुन्दर परिचालन के लिये पुलिस का बहुत प्रयोजन नहीं है। उसे केवल गड़बड़ रोकना पड़ता है, अन्याय निवारण करना पड़ता है। विचार-शक्ति अर्थात् बुद्धि का कार्य भी इतना ही होता है। जब इस प्रकार की विचारात्मक पुस्तक तुम पढ़ते हो तब वह एक बार पूरी समझ में आने पर तुम लोग यह सोचते हो कि 'ईश्वरेच्छा से हम बच गये।' इसका कारण यही है कि विचारशक्ति अन्ध है, उसकी अपनी गति-शक्ति नहीं है, उसके हाथ-पैर नहीं है। हृदय--भाव--ही वास्तव में कार्य करता है, वह बिजली अथवा उससे भी अधिक वेगगामी पदार्थ की अपेक्षा शीघ्रगामी होता है। अब प्रश्न यह है कि क्या तुम्हारे हृदय है? यदि है तो तुम उसके द्वारा ही ईश्वर को देखोगे। आज तुम्हारा जितना भी भाव है वही प्रबल होता जायगा--उच्च से उच्चतर भावापन्न--देवभावापन्न होता रहेगा जब तक कि उसे सम्पूर्ण अनुभव नहीं होगा। बुद्धि यह नहीं कर सकती। "विचित्र रूप से शब्दों की जोड़तोड़, शास्त्र-व्याख्या की विभिन्न शैलियाँ केवल पण्डितों के लिये हैं, हमारे लिये नहीं, मुक्ति के लिये नहीं।"

तुम लोगों में से जिन्होंने टॉमस-आ-केम्पिस की 'ईसा-अनुसरण' पुस्तक पढ़ी है वे जानते हैं कि प्रति पृष्ठ में किस प्रकार उन्होंने इस बात पर जोर दिया है। जगत् के प्रायः सभी महापुरुषों ने इसी पर जोर दिया है। विचार आवश्यक है,

विचार न करने से हम लोग अनेक भ्रमों में पड़ जाते हैं। विचार-शक्ति उसका निवारण करती हैं, इसके अतिरिक्त विचार की नींव पर और कुछ निर्माण करने की चेष्टा न करना। वह केवल एक गौण सहायक मात्र है, वह अधिक कुछ नहीं कर पाती––वास्तविक सहायता भाव से, प्रेम से होती है। तुम क्या किसी दूसरे के लिये हृदय के अन्तस्तल से अनुभव करते हो ? यदि तुम करते हो तो तुम्हारे हृदय में एकत्व का भाव बढ़ रहा है। यदि तुम ऐसा नहीं करते तो तुम एक बहुत बड़े बुद्धिजीवी भले ही हो सकते हो, किन्तु तुम्हें कुछ मिलेगा नहीं––केवल शुष्क बुद्धि का स्तूप बने रहोगे; और यदि तुम्हारे हृदय हैं तो एक पुस्तक न पढ़ सकने पर भी, कोई भाषा न जानने पर भी तुम ठीक रास्ते पर चले जा रहे हो। ईश्वर तुम्हारी सहायता करेंगे।

क्या तुमने विश्व के इतिहास में महापुरुषों की शक्ति की कथायें नहीं पढ़ीं ? यह शक्ति उन्हें कहाँ से मिली ? बुद्धि से ? उनमें से क्या कोई दर्शन सम्बन्धी सुन्दर पुस्तक लिख छोड़ गया है ? अथवा न्याय के कूट विचार लेकर कोई पुस्तक लिख गया है ? किसी ने ऐसा नहीं किया। वे केवल कुछ थोड़ी सी बातें कह गये हैं। ईसा के समान सहृदय बनो, तुम भी ईसा हो जाओगे; बुद्ध के समान सहृदय बनो, तुम भी बुद्ध बन जाओगे। भाव ही जीवन है, भाव ही बल है, भाव ही तेज है––भाव के बिना कितनी ही बुद्धि क्यों न लगाओ, ईश्वर-प्राप्ति नहीं होगी।

बुद्धि मानो चालनाशक्ति-शून्य अंग-प्रत्यंग के समान है। जब भाव उसे अनुप्राणित करके गतियुक्त करता है, तभी वह दूसरे के हृदय को स्पर्श करती है। जगत् में सदा से ऐसा ही होता आया है, अतएव यह विषय तुम्हें खूब याद रखना चाहिये। वैदान्तिक

नीतितत्त्व में यह एक विशेष काम की बात है, क्योंकि वेदान्त कहता है तुम सब महापुरुष हो––तुम सबको महापुरुष होना ही पड़ेगा। कोई शास्त्र तुम्हारे कार्यों का प्रमाण नहीं, किन्तु तुम्हीं शास्त्रों के प्रमाणस्वरूप हो। कौन शास्त्र सत्य है, यह किस प्रकार जान सकते हो ? तुम भी ठीक वैसा ही अनुभव करते हो इसीलिये तो। वेदान्त यही कहता है। जगत् के ईसा और बुद्धगणों के वाक्यों का प्रमाण क्या है ?––यही कि हम-तुम भी वैसा ही अनुभव करते हैं इसी कारण हम-तुम समझते हैं कि ये सब सत्य हैं। हम लोगों की ईश्वरीय आत्मा उन लोगों की ईश्वरीय आत्मा का प्रमाण है, यहाँ तक कि तुम्हारा ईश्वरत्व ही ईश्वर का भी प्रमाण है। यदि तुम वास्तविक महापुरुष नहीं हो तो ईश्वर के सम्बन्ध में भी कोई बात सत्य नहीं। तुम यदि ईश्वर नहीं हो, तो कोई ईश्वर भी नहीं है और कभी होगा भी नहीं। वेदान्त कहता है, इसी आदर्श का अनुसरण करना चाहिए। हम लोगों में से प्रत्येक को ही महापुरुष बनना पड़ेगा––और तुम स्वरूपतः वही हो। केवल इतना ही है कि यह 'ज्ञात' हो जाय। यह कभी न सोचना कि आत्मा के लिये कुछ असम्भव है। ऐसा कहना ही भयानक नास्तिकता है। यदि पाप नामक कोई वस्तु है तो यह कहना ही एकमात्र पाप है कि मैं दुर्बल हूँ अथवा अन्य कोई दुर्बल है।

व्यावहारिक जीवन में वेदान्त

द्वितीय व्याख्यान

(१२ नवम्बर, १८९६ ई. को लन्दन में दिया हुआ भाषण ।)

मैं छान्दोग्य उपनिषद् से, एक बालक को किस प्रकार ज्ञान प्राप्त हुआ इस सम्बन्ध में एक कहानी सुनाता हूँ । यद्यपि यह कहानी प्राचीन शैली की है फिर भी इसमें एक सार तत्त्व निहित है । एक छोटे बालक ने अपनी माता से कहा, "माँ, मैं वेद-शिक्षा पाने के लिये जाना चाहता हूँ, मेरे पिता का नाम और मेरा गोत्र क्या है बताओ ।"

उसकी माँ विवाहिता स्त्री नहीं थी, और भारतवर्ष में अविवाहित स्त्री की सन्तान समाज में नगण्य-सी मानी जाती है--किसी कार्य में उसका अधिकार नहीं होता, वेद-पाठ करना तो दूर रहा । अतएव उसकी माँ ने कहा, "मैंने यौवन में अनेक व्यक्तियों की सेवा की है, उसी अवस्था में तुम्हारा जन्म हुआ, अतएव मैं तुम्हारे पिता का नाम एवं तुम्हारा गोत्र क्या है, यह नहीं जानती; इतना ही जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला है ।" बालक एक ऋषि के पास गया और उसने उनसे प्रार्थना की कि वे उसे ब्रह्मचारी शिष्य के रूप में ग्रहण करें । तब उन्होंने उससे पूछा, "तुम्हारे पिता का नाम और तुम्हारा गोत्र क्या है ?" बालक ने जो उसकी माँ ने कहा था वही दुहराया । यह सुनकर

ऋषि ने तुरन्त ही कहा, "वत्स, तुमने सच भाषण किया है, तुम धर्म-पथ से विचलित नहीं हुए—यही सत्यवादिता ब्राह्मण का लक्षण है; इसलिये मैंने तुम्हें ब्राह्मण मान लिया—मैं तुम्हें शिष्य बनाऊँगा।" यह कहकर वे उसे अपने निकट रखकर शिक्षा देने लगे। बालक का नाम था सत्यकाम। अस्तु।

प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के अनुसार सत्यकाम की शिक्षा होने लगी। गुरु ने सत्यकाम को कई सौ गायें देकर कहा, "ये लेकर तुम वन में चले जाओ, जब सब गायें एक हजार हो जायँ तब लौटकर चले आना।" उसने आज्ञा पालन की और वह गायें लेकर वन में चला गया। कई साल बाद इस झुण्ड में से एक प्रधान वृषभ ने सत्यकाम से कहा, "हम सब अब एक हजार हो गये हैं, हमें तुम अपने गुरु के पास ले चलो। मैं तुम्हें ब्रह्म के विषय में कुछ शिक्षा दूंगा।" सत्यकाम ने कहा, "कहिये प्रभु।" वृषभ ने कहा, "उत्तर दिशा ब्रह्म का एक अंश है; उसी प्रकार पूर्व दिशा, दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा भी उसके एक एक अंश हैं। चारों दिशायें ब्रह्म के चार अंश हैं।" इतना कहकर उन्होंने कहा, "अब अग्नि तुम्हें और कुछ शिक्षा देंगे।" उस समय अग्नि ब्रह्म के एक विशिष्ट प्रतीक-रूप से पूजे जाते थे। प्रत्येक ब्रह्मचारी को अग्नि-चयन करके उसमें आहुती देनी पड़ती थी। सत्यकाम स्नानादि करके अग्नि में होम कर उनके निकट बैठ गये, इसी समय अग्नि से एक वाणी सुनाई पड़ी—"सत्यकाम।" सत्यकाम ने कहा, "प्रभो, आज्ञा!" तुम लोगों को शायद याद होगा कि बाइबिल की प्राचीन संहिता में भी इसी प्रकार का एक गल्प है, सैमुएल ने ऐसी ही एक अद्भुत वाणी सुनी थी। जो हो, अग्नि ने कहा, "मैं तुम्हें ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ शिक्षा दूंगा।

यह पृथ्वी ब्रह्म का एक अंश है, अन्तरिक्ष एक अंश है, स्वर्ग एक अंश है, समुद्र एक अंश है।" फ़िर अग्नि ने कहा, "अब एक हंस तुम्हें कुछ शिक्षा देगा।" निदान एक हंस ने एक दिन आकर सत्यकाम से कहा, "मैं तुम्हें ब्रह्म के विषय में कुछ शिक्षा दूंगा। हे सत्यकाम, यह अग्नि जिसकी तुम उपासना करते हो, ब्रह्म का एक अंश है, सूर्य एक अंश है, चंद्र एक अंश है, विद्युत् भी एक अंश है।" फिर हंस ने कहा, "अब मद्‌गू नामक एक पक्षी भी तुम्हें कुछ शिक्षा देगा।" निदान एक दिन यह पक्षी आकर सत्यकाम से बोला, "मैं तुम्हें ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ शिक्षा दूंगा। 'प्राण' उसका एक अंश है, चक्षु एक अंश है, श्रवण एक अंश एवं मन एक अंश है।" तदनन्तर बालक अपने गुरु के पास पहुँचा, गुरु ने उसे दूर से देखकर कहा, "वत्स, तुम्हारा मुख ब्रह्मवेत्ता के समान प्रकाशित हुआ देख रहा हूँ।" बालक ने गुरु से ब्रह्म के सम्बन्ध में और भी कुछ उपदेश देने के लिये कहा। वे बोले, "तुम ब्रह्म के सम्बन्ध में सब कुछ पहले ही जान चुके हो।"

यहाँ पर मान लीजिए हम इन सब रूपकों को थोड़ी देर के लिए हटा दें कि वृष ने क्या सिखाया, अग्नि ने क्या सिखाया तथा अन्य सबों ने क्या सिखाया—और केवल केन्द्रीय तत्त्व की ओर ध्यान दें तो प्रतीत होगा कि विचार की गति किस ओर जा रही है। हम इन सब बातों से इस तत्त्व का आभास पाते हैं कि यह सब वाणी हमारे अन्दर ही है। हम लोग और अधिक अध्ययन करके समझेंगे कि अन्त में यही तत्त्व पाया जाता है कि यह वाणी वास्तव में हम लोगों के हृदय में से ही उठी है। शिष्य निरन्तर सत्य के सम्बन्ध में उपदेश पा रहा है, किन्तु वह जो

समझ रहा है कि ये सब शिक्षायें बाह्य जगत् से प्राप्त हो रही हैं, यह सत्य नहीं है। और भी एक तत्त्व इसी से पाया जाता है, और वह है कर्मण्य जीवन में ब्रह्मप्राप्ति--ब्रह्म का साक्षात्कार। व्यावहारिक जीवन में धर्म से क्या सत्य पाया जा सकता है, यही सर्वदा जगत् में अन्वेषित हो रहा है; और इन सब कथाओं में हम यह भी देख पाते हैं कि दिन-प्रतिदिन किस प्रकार यह सत्य दैनिक जीवन में घटता जा रहा है। शिष्यगणों को जिन समस्त वस्तुओं के संसर्ग में आना पड़ता है, वे उन्हीं से ब्रह्मोपलब्धि करते हैं। अग्नि, जिसमें वे प्रतिदिन होम करते हैं, उसीमें वे ब्रह्म-साक्षात्कार कर रहे हैं। इसी प्रकार परिदृश्यमान पृथ्वी को वे ब्रह्म के एक अंश-रूप में अनुभव कर रहे हैं—इत्यादि इत्यादि।

इसके बाद एक कहानी सत्यकाम के शिष्य के सम्बन्ध में है। यह शिष्य भी सत्यकाम से शिक्षा प्राप्त करने के लिये उनके पास कुछ दिन रहा था। सत्यकाम कार्यवश कहीं बाहर गये। इससे शिष्य को बहुत कष्ट हुआ। जब गुरु-पत्नी ने उसके समीप आकर पूछा, 'वत्स, तुम खाते क्यों नहीं?' तब बालक ने कहा, 'मेरा मन कुछ ठीक नहीं है, इसलिए कुछ खाना नहीं चाहता।' इसी समय वह जिस अग्नि में हवन कर रहा था उसमें से एक आवाज आई, 'प्राण ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है, तुम ब्रह्म को जानो।' तब उसने पूछा, 'प्राण ब्रह्म है, यह मैं जानता हूँ किन्तु वे आकाश और सुखस्वरूप हैं, यह मैं नहीं जानता।' तब अग्नि ने फिर कहा, 'यह पृथ्वी, यह अन्न, यह सूर्य जिसकी तुम उपासना करते हो, जो इन सब में बसते हैं, वे ही तुम सबों के अन्दर

भी है। जो यह जानते हैं और इस प्रकार की उपासना करते हैं, उनके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, वे दीर्घ जीवन प्राप्त करते हैं और सुखी होते हैं। जो समस्त दिशाओं में वास करते हैं, मैं भी वही हूँ। जो इस प्राण में हैं, इस आकाश में हैं, स्वर्गसमूह और विद्युत् में बसतें हैं मैं भी वही हूँ।' यहाँ भी हम धर्म के साक्षात्कार की कथा पाते हैं। जिसकी वे अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि के रूप में उपासना करते थे, जिन सब वस्तुओं के साथ वे परिचित थे, उनकी व्याख्या होने लगी, उन्हीं का एक उच्चतर अर्थ बताया जाने लगा और यही वास्तविक वेदान्त का साधनकाण्ड है। वेदान्त जगत् को उड़ा नहीं देता, किन्तु उसकी व्याख्या करता है। वह व्यक्ति को उड़ा नहीं देता—उसकी व्याख्या करता है। वह 'अहंत्व' को मिटाने का उपदेश नहीं करता किन्तु वास्तविक 'अहंत्व' क्या है यह समझा देता है। वह यह नहीं कहता कि जगत् वृथा है अथवा उसका कोई अस्तित्व नहीं है, किन्तु बतलाता है कि जगत् क्या है यह समझो जिससे वह तुम्हारा कोई अनिष्ट न कर सके। उस वाणी ने सत्यकाम अथवा उनके शिष्य से यह नहीं कहा था कि सूर्य, चन्द्र, विद्युत् अथवा और कुछ, जिसकी वे उपासना करते थे, वह एकदम भूल है किन्तु यही कहा कि जो चैतन्य सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि और पृथ्वी के भीतर है, वही उनके अन्दर भी है अतएव उनकी दृष्टि में सबने एक नवीन रूप धारण कर लिया। जो अग्नि पहले केवल हवन करने की जड़ अग्नि-मात्र थी, उसने एक नया रूप धारण कर लिया और वह ईश्वररूप में प्रतीत हुई। पृथ्वी ने और एक नया रूप धारण कर लिया, प्राण ने और एक रूप धारण कर लिया, सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत् सभी ने एक नया

रूप धारण कर लिया, सब ब्रह्मभावापन्न हो गये और उनका वास्तविक स्वरूप तब जान पड़ा। हम लोगों को यह विशेष रूप से जानना आवश्यक है कि वेदान्त का उद्देश्य ही इन सब वस्तुओं में भगवान् का दर्शन करना है, उनका जो रूप आपाततः प्रतीत होता है, वह न देखकर उनको उनके प्रकृत स्वरूप में जानना है।

उसके बाद और भी एक प्रस्ताव है—वह कुछ विशेष प्रकार का है। 'जो आँखों में प्रकाशित हो रहे हैं वे ब्रह्म हैं; वे रमणीय और ज्योति हैं। वे सम्पूर्ण जगत् में प्रकाश दे रहे हैं।' यहाँ भाष्यकार कहते हैं, पवित्रात्मा पुरुषों की आँखों में जो एक विशेष प्रकार की ज्योति का आविर्भाव होता है, वह वास्तव में सर्वव्यापी आत्मा की ही ज्योति है। वह ज्योति ही ग्रहों, सूर्य-चन्द्र और तारों में प्रकाशित हो रही है।

तुम लोगों से अब जन्म-मृत्यु आदि के सम्बन्ध में इन सब प्राचीन उपनिषदों की कुछ अद्भुत कथायें कहूँगा। शायद ये तुम्हें अच्छी लगें। श्वेतकेतु पाञ्चालराज के पास गया। राजा ने उससे यही सब प्रश्न पूछे, और कहा, 'क्या तुम जानते हो मृत्यु होने के पश्चात् सब मनुष्य कहाँ जाते हैं? क्या जानते हो कि वे किस प्रकार फिर लौट आते हैं? क्या जानते हो कि पृथ्वी एकदम परिपूर्ण अथवा शून्य ही क्यों नहीं हो जाती?' बालक ने कहा, 'नहीं, मैं यह सब नहीं जानता।' उसने अपने पिता से जाकर यही सब प्रश्न पूछे। पिता ने कहा, 'इन सब प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर तो मुझे भी मालूम नहीं।' तब वे दोनों राजा के पास लौट गये। राजा ने कहा, 'यह ज्ञान पहले ब्राह्मणों को ज्ञात नहीं था, केवल राजागण ही इसे जानते थे, और इसी ज्ञान के बल पर राजागण

पृथ्वी पर शासन करते रहते हैं।' तब उन दोनों ने राजा की कुछ सेवा की, अन्त में राजा उन लोगों को शिक्षा देने के लिये प्रस्तुत हुए। उन्होंने कहा, 'हे गौतम, तुम जिस अग्नि की उपासना करते हो, वह वास्तव में अत्यन्त निम्न स्तर का पदार्थ है। यह पृथ्वी ही वह अग्निस्वरूप है। संवत्सर उसके काष्ठस्वरूप हैं, रात्रि उसकी धूम्रस्वरूप है। सारी दिशायें उसकी शिखायें हैं। समस्त कोण उसके स्फुलिंग-स्वरूप हैं। इसी अग्नि में देवतागण वृष्टिस्वरूप आहुति देते रहते हैं, इसी से अन्न उत्पन्न होता है।' इस प्रकार राजा अनेक प्रकार के उपदेश देने लगे। इन सब उपदेशों का तात्पर्य यही है कि तुम्हारी इस क्षुद्र अग्नि में होम करने का कोई प्रयोजन नहीं, सम्पूर्ण जगत् ही वह अग्नि है और दिन-रात उसमें होम हो रहा है। देवता, मनुष्य सभी दिन-रात उसी की उपासना करते हैं—'हे गौतम, मनुष्य का शरीर ही सर्वश्रेष्ठ अग्नि है।' हम यहाँ भी देखते हैं कि धर्म को कार्य में परिणत किया जा रहा है, ब्रह्म को संसार के भीतर लाया जा रहा है। इन सब रूपकों में यही एक तत्त्व देखता हूँ कि मनुष्य की बनाई हुई मूर्ति मनुष्यों की हितकारिणी और शुभदा हो सकती है किन्तु उससे भी श्रेष्ठ प्रतिमा पहले से ही विद्यमान है। यदि ईश्वरोपासना करने के लिये प्रतिमा आवश्यक है तो सजीव मानव-प्रतिमा तो मौजूद ही है। यदि ईश्वरोपासना के लिये मन्दिर निर्माण करना चाहते हो तो करो, किन्तु सोच लो कि उससे भी उच्चतर, उससे भी महान् मानव देह-रूपी मन्दिर तो पहले से ही मौजूद है।

हम लोगों को याद रखना चाहिए कि वेद के दो भाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। उपनिषदों के अभ्युदय-काल में कर्म-

काण्ड इतना जटिल और विस्तारपूर्ण हो गया था कि उससे मुक्त होना असम्भव-सा कार्य हो गया। उपनिषदों में कर्मकाण्ड बिलकुल छोड़ दिया गया है ऐसा कहा जा सकता है, किन्तु धीरे धीरे; और प्रत्येक कर्मकाण्ड के अन्दर एक उच्चतर अर्थगाम्भीर्य दिखाने की चेष्टा की गई है। अत्यन्त प्राचीन काल में यह सब यज्ञादिक कर्मकाण्ड प्रचलित थे, किन्तु उपनिषद्काल में ज्ञानियों का अभ्युदय हुआ। उन लोगों ने क्या किया ? आधुनिक सुधारकों के समान उन लोगों ने यज्ञादि के विरुद्ध प्रचार करके उसे एकदम मिथ्या या पाखण्ड कहकर उडा देने की चेष्टा नहीं की, किन्तु उन्हीं का उच्चतर तात्पर्य समझाकर लोगों को एक ग्रहण करने योग्य वस्तु दी। उन्होंने कहा, 'अग्नि में हवन करो, बहुत अच्छी बात है, किन्तु इस पृथ्वी पर दिन-रात हवन हो रहा है। यह क्षुद्र मन्दिर है, ठीक है, किन्तु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही हमारा मन्दिर है, हम कहीं भी उपासना क्यों न करें, कोई हानि नहीं। तुम लोग वेदी बनाते हो--किन्तु हम लोगों के मत में, जीवित चेतन मनुष्य-देहरूपी वेदी वर्तमान है और इस मनुष्य-देह-रूपी वेदी पर की गई पूजा दूसरी अचेतन, मृतजड़ मूर्ति की पूजा की अपेक्षा श्रेयस्कर है।

यहाँ और भी एक विशेष मत का वर्णन किया गया है। मैं इसका अधिकांश नहीं समझता। उपनिषद् का यह एक अंश मैं पढ़ता हूँ, तुम लोग इसे कुछ समझ सको तो समझो। जो व्यक्ति ध्यान-बल से विशुद्धचित होकर ज्ञानलाभ कर चुका है, वह जब मरता है, तो पहले अर्चि, उसके बाद दिन, फिर क्रमशः शुक्लपक्ष में और उत्तरायण षण्मास में जाता है; वहाँ से संवत्सर, संवत्सर से सूर्यलोक, और सूर्यलोक से चन्द्रलोक, तथा चन्द्रलोक से

विद्युल्लोक में जाता है। वहाँ से एक दिव्य पुरुष उसे ब्रह्मलोक में ले जाते हैं। इसी का नाम देवयान है। जब साधु और ज्ञानियों की मृत्यु होती है, तो वे इसी मार्ग द्वारा जाते हैं। इन मास, संवत्सर आदि शब्दों का क्या अर्थ है यह कोई भी भलीभाँति नहीं समझता। सभी अपने अपने मस्तिष्क का कल्पित अर्थ लगाते रहते हैं। बहुत से लोग यह भी कहते हैं कि यह बेकार की बात है। इन चन्द्रलोक, सूर्यलोक आदि में जाने का क्या अर्थ है ? और यह दिव्यपुरुष आकर विद्युल्लोक से ब्रह्मलोक में ले जाता है, इसका भी क्या अर्थ है ? हिन्दुओं में एक धारणा थी कि चन्द्रलोक में प्राणी रहते हैं—इसके बाद हम लोग यह देखेंगे कि किस प्रकार चन्द्रलोक से पतित होकर मनुष्य पृथ्वी पर वापस आता है। जो ज्ञान प्राप्त नहीं करते हैं किन्तु इस जीवन में शुभ कर्म कर चुके हैं, वे जब मरते हैं तो पहले धूम्र में जाते हैं, फिर रात्रि में, तदनन्तर कृष्ण-पक्ष, फिर दक्षिणायन षण्मास, और उसके बाद संवत्सर में से होकर वे पितृलोक में चले जाते हैं। वहाँ से आकाश में और फिर वे चन्द्रलोक में गमन करते हैं। वहाँ देवताओं के खाद्यरूप होकर देवजन्म ग्रहण करते हैं। जब तक उनका पुण्यक्षय नहीं होता तब तक वहीं रहते हैं। कर्मफल समाप्त होने पर फिर उन्हें पृथ्वी पर आना पड़ता है। वे पहले आकाश-रूप में परिणत होते हैं, फिर वायु-रूप में, फिर धूम्र, उसके बाद मेघ आदि के रूप में परिणत होकर अन्त में, वृष्टि-कण का आश्रय लेकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं, वहाँ शस्यक्षेत्र में गिरकर शस्य-रूप में परिणत होकर मनुष्य के खाद्य-रूप में परिगृहीत होते हैं और अन्त में उनकी सन्तानादि बन जाते हैं। जिन लोगों ने खूब सत्कर्म किए थे, वे सद्वंश में जन्म ग्रहण करते

हैं और जिन लोगों ने अत्यन्त असत् कर्म किए थे, उनका अत्यन्त नीच जन्म होता है, यहाँ तक कि उनको कभी कभी सूअर का भी जन्म लेना पड़ता है। और जो व्यक्ति देवयान और पितृयान नामक इन दोनों रास्तों में से किसी भी एक रास्ते पर नहीं चल पाते, वे बार बार जन्म ग्रहण करते रहते हैं तथा बार बार मौत के मुँह में पड़ते रहते हैं, इसी कारण पृथ्वी न तो एकदम सूनी होती है और न परिपूर्ण ही।

हम लोग इससे कुछ थोड़े से भाव प्राप्त कर सकते हैं और बाद में शायद हम इसका बहुत कुछ अर्थ भी समझ सकेंगे। अन्तिम बातें, अर्थात् स्वर्ग में जाकर जीव फिर से किस प्रकार लौट आते हैं, वे पहली बात की अपेक्षा मानो कुछ अधिक स्पष्ट प्रतीत होती हैं, किन्तु इन सब उक्तियों का सार तत्त्व यही जान पड़ता है कि ब्रह्मानुभूति के बिना स्वर्गादि प्राप्ति व्यर्थ है। मान लो, कुछ व्यक्ति जिन्हें अभी तक ब्रह्मानुभव नहीं हो सका किन्तु इस लोक में कुछ सत्कर्म कर चुके हैं और वह कर्म भी सकाम किया गया है, तो उनकी मृत्यु होने पर वे इधर उधर अनेक स्थानों में घूम फिरकर स्वर्ग पहुँचते हैं और हम लोग भी जिस प्रकार पैदा होते हैं ठीक उसी प्रकार वे भी देवताओं की सन्तानरूप में पैदा होते हैं और जितने दिन उनके शुभ कर्मफल की समाप्ति नहीं होती उतने दिन वे वहाँ रहते हैं। इसी से वेदान्त का एक मूल तत्त्व यह पाया जाता है कि जिसका नाम-रूप है वही नश्वर है। अतएव स्वर्ग भी नश्वर होगा, क्योंकि उसका भी तो नाम-रूप है, अनन्त स्वर्ग स्वविरोधी वाक्य मात्र है, जिस प्रकार यह पृथ्वी अनन्त नहीं हो सकती; क्योंकि जिस वस्तु का भी नाम-रूप है उसी की उत्पत्ति काल में है, स्थिति काल में है, विनाश काल में है।

वेदान्त का यह स्थिर सिद्धान्त है—अतएव अनन्त स्वर्ग की धारणा व्यर्थ है।

हमने देखा है कि वेद के संहिता भाग में अनन्त स्वर्ग का वर्णन है जिस प्रकार मुसलमान और ईसाइयों के धर्म-ग्रन्थों में है। मुसलमानों की स्वर्ग-धारणा और भी स्थूल है। वे लोग कहते हैं, स्वर्ग में बाग-बगीचे हैं, उनके नीचे नदियाँ बह रही हैं। अरबवासियों के रेगिस्तान में जल एक बहुत ही वांच्छनीय पदार्थ है। इसीलिये मुसलमान स्वर्ग को सदा जलपूर्ण बताते हैं। मेरा जहाँ जन्म हुआ, वहाँ साल में छः महीने जल बरसता रहता है। मैं स्वर्ग को कल्पना में शायद शुष्क स्थान सोचूँगा, अंग्रेज भी यह सोचेंगे। संहिता का यह स्वर्ग अनन्त है, वहाँ मृत व्यक्ति जाकर रहते हैं। वे लोग वहाँ सुन्दर देह पाकर वहाँ के पितृगण के साथ अत्यन्त सुख सहित चिरकाल तक रहते हैं, वहाँ उनके माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि भी आ मिलते हैं। और वे बहुत कुछ यहीं के समान रहते हैं, हाँ, उनका जीवन अपेक्षाकृत अधिक सुखमय होता है। उन लोगों के स्वर्ग की धारणा भी यही है कि इस जीवन में सुखप्राप्ति में जो सब विघ्न-बाधायें हैं वे सब मिट जायेंगी, केवल इसका जो सुखमय अंश है वही शेष रहेगा। स्वर्ग की यह धारणा हमें सुखकर भले ही प्रतीत हो किन्तु सुखकर और सत्य ये दोनों पूर्ण रूप से भिन्न वस्तुएँ हैं। वास्तव में चरम सीमा पर पहुँचे बिना सत्य कभी सुखकर नहीं होता। मनुष्य का स्वभाव ही बड़ा स्थितिशील है। मनुष्य कोई विशेष काम करता रहता है तो एक बार उसे शुरू करने पर फिर उसे छोड़ना उसके लिए बहुत कठिन हो जाता है। मन नई चिन्ता नहीं आने देता, कारण वह बहुत कष्टकर

होती है।

अतएव हम लोग देखते हैं कि उपनिषदों में पूर्वप्रचलित धारणा का विशेष व्यतिक्रम हुआ है। उपनिषदों में कहा है, यह सब स्वर्ग जहाँ मनुष्य जाकर पितृगण के साथ रहता है, कभी नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि नाम-रूपात्मक सभी वस्तुएँ विनाशशील हैं। यदि स्वर्ग साकार है तो काल के अनुसार उस स्वर्ग का अवश्य नाश होगा। हो सकता है, वह लाखों वर्ष रहे किन्तु अन्त में ऐसा एक समय अवश्य आएगा कि उसका नाश होगा, और अवश्य होगा।

इसी बीच एक और भी धारणा लोगों के मन में आई है और वह यह कि ये सब आत्मा दुबारा इसी पृथ्वी पर लौट आती हैं और स्वर्ग केवल उनके शुभ कर्मों के फलभोग का स्थान मात्र है। फलभोग शेष होने पर वे फिर पृथ्वी पर ही जन्म ग्रहण करते हैं। एक बात इसीसे स्पष्ट प्रतीत होती है कि मनुष्य को अत्यन्त प्राचीन काल से ही कार्यकारण-विज्ञान विदित था। बाद में हम लोग देखेंगे कि हमारे दार्शनिकों ने इसी तत्त्व का वर्णन दर्शन तथा न्याय की भाषा में किया है, किन्तु इस स्थान में मानो एक शिशु की अस्पष्ट भाषा में इसे कहा गया है। इन सब ग्रन्थों का पाठ करते समय तुम लोगों ने शायद यह समझ लिया होगा कि ये सब तत्त्व प्रत्यक्ष अनुभूति के फल-स्वरूप हैं। यदि तुम लोग यह पूछो कि ये सब कार्यरूप में परिणत हो सकते हैं या नहीं तो मैं कहूँगा कि पहले ये सब कार्यरूप में परिणत हुए हैं और बाद में दर्शन के रूप में आविर्भूत हुए हैं। तुमने देखा कि ये सब पहले अनुभूत हुए, बाद में लिखे गये। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्राचीन ऋषियों के साथ मानो बातें

करता था। पक्षिगण उनसे बोलते, पशुगण भी उनसे बातचीत करते और चन्द्र-सूर्य से भी उनका सम्भाषण होता था। वे क्रमशः समस्त वस्तुओं का अनुभव करने लगे, प्रकृति के अन्तस्तल में पैठने लगे। उन्होंने उसे चिन्तन द्वारा अथवा तर्क द्वारा नहीं पाया और न आजकल की प्रथा के अनुसार ऐसा ही हुआ कि किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा विचारित कुछ विषय संग्रह किए और एक ग्रन्थ बना दिया, अथवा मैं आज जैसे उन्हीं के एक ग्रन्थ को लेकर लम्बी-चौड़ी वक्तृता दे डालता हूँ, ऐसा भी नहीं हुआ, वरन् उनको इसका आविष्कार करना पड़ा। इसका सार था साधना—प्रत्यक्षानुभूति और चिरकाल तक वही रहेगा। धर्म चिरकाल तक एक प्रत्यक्ष विज्ञानस्वरूप रहेगा। मतवाद कभी धर्म नहीं हो सकता। पहले अभ्यास, उसके बाद ज्ञान। जीवगण यहाँ लौट आते हैं, यह धारणा मैं इस उपनिषद में पाता हूँ। जो फल की कामना से कुछ सत्कर्म करते हैं, उन्हें उस सत्कर्म का फल प्राप्त होता है, किन्तु यह फल नित्य नहीं होता। कार्य-कारण-वाद यहाँ बहुत सुन्दर रूप में वर्णित हुआ है, क्योंकि कहा गया है कि कार्य कारण के अनुसार ही होता है। जैसा कारण है कार्य भी वैसा ही होगा; कारण जब अनित्य है तो कार्य भी अनित्य है। कारण नित्य होने पर कार्य भी नित्य होगा। किन्तु सत्कर्म-रूपी ये कारण अनित्य और ससीम हैं अतएव उनका फल भी कभी नित्य नहीं हो सकता।

इस तत्त्व का एक और पहलू देखने से यह भलीभाँति समझ में आ जायगा कि जिस कारण से अनन्त स्वर्ग नहीं हो सकता उसी कारण से अनन्त नरक भी नहीं हो सकता। मान लो, मैं एक बहुत दुष्ट आदमी हूँ और समस्त जीवन भर अन्याय-

पूर्ण कर्म करता रहा हूँ, तो भी यह सारा जीवन उसकी अनन्त जीवन के साथ तुलना करने पर कुछ भी नहीं है। यदि दण्ड अनन्त हो तो इसका यह अर्थ होगा कि ससीम कारण से असीम फल की उत्पत्ति हुई। इस जीवन के ससीम कार्यरूप कारण द्वारा असीम फल की उत्पत्ति हुई। यह नहीं हो सकता। यदि यह मान लिया जाय कि समस्त जीवनपर्यन्त सत्कर्म करते रहने पर अनन्त स्वर्ग लाभ होता है, तो भी यह दोष बना रहेगा। उपरोक्त जिन सब मार्गों की बातें कही गई हैं, उनके व्यतिरिक्त उन लोगों के लिए जिन्होंने सत्य को जान लिया है और भी एक दूसरा मार्ग है। मायावरण से बाहर निकलने का यही एक मात्र उपाय है---'सत्य का अनुभव करना।' और सब उपनिषद, यह सत्यानुभव किसे कहते हैं, यही समझाते हैं।

अच्छा बुरा कुछ न देखो, सभी वस्तुएँ और सभी कार्य आत्मा से उत्पन्न होते हैं, यही विचार करो। आत्मा सभी में है। यही कहो कि जगत् नामक कोई चीज़ नहीं है। बाह्यदृष्टि बन्द करो, और उसी प्रभु को स्वर्ग, नरक सभी स्थानों में देखो। क्या मृत्यु, क्या जीवन---सर्वत्र उसी की उपलब्धि करो। मैंने पहले जो तुम्हें पढ़कर सुनाया है, उसमें भी यही भाव है---यह पृथ्वी उसी भगवान का एक पाद है, आकाश भी भगवान का दूसरा एक पाद है, इत्यादि इत्यादि। ये सब ब्रह्म हैं। परन्तु यह देखना पड़ेगा, अनुभव करना पड़ेगा, इस विषय की केवल आलोचना अथवा चिन्ता करने से कुछ नहीं होगा। मान लो, जब आत्मा ने जगत् की प्रत्येक वस्तु का स्वरूप समझ लिया और उसे वह अनुभव होने लगा कि प्रत्येक वस्तु ही ब्रह्ममय है, तब वह स्वर्ग में जाय अथवा नरक में, या अन्यत्र

और कहीं चली जाय, तो इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं मैं पृथ्वी पर जन्मूँ अथवा स्वर्ग में जाऊँ, इससे कोई अन्तर नहीं होता। मेरे लिये ये सब निरर्थक हैं क्योंकि मेरे लिये सभी स्थान समान हैं, सभी स्थान भगवान के मन्दिर हैं, सभी स्थान पवित्र हैं, कारण स्वर्ग, नरक अथवा अन्यत्र मैं केवल भगवत्सत्ता का ही अनुभव कर रहा हूँ। भला-बुरा अथवा जीवन-मरण मुझे कुछ नहीं दीखते।

वेदान्त-मत में मनुष्य जब ऐसी अनुभूति प्राप्त कर लेता है तब वह मुक्त हो जाता है और वेदान्त कहता है केवल वही व्यक्ति संसार में रहने योग्य है, दूसरा नहीं। जो व्यक्ति जगत् में केवल अन्याय देखता है, वह भला संसार में कैसे वास कर सकता है ? उसका जीवन तो सर्वदा दुःखमय होगा। जो व्यक्ति यहाँ अनेकानेक विघ्न-बाधाओं तथा विपत्तियों को देखता है, मृत्यु देखता है उसका जीवन तो दुःखमय होगा ही, परन्तु जो व्यक्ति प्रत्येक वस्तु में उसी सत्य-स्वरूप को देखता है, वही संसार में रहने योग्य है; वही यह कह सकता है कि मैं इस जीवन का उपभोग कर रहा हूँ, मैं इस जीवन में खूब सुखी हूँ। यहाँ मैं यह कह देना चाहता हूँ कि वेद में कहीं भी नरक का उल्लेख नहीं है। वेद के बहुत परवर्ती काल में रचित पुराणों में यह नरक-प्रसंग दिया गया है। वेद में सब से बड़ा दण्ड है ——पुनर्जन्म अर्थात् और एक बार उन्नति की सुविधा प्राप्त करना। हम देखते हैं कि पहले से ही यह निर्गुण भाव चलता आ रहा है। पुरस्कार और दण्ड का भाव बहुत ही जड़भावात्मक है और यह भाव केवल मनुष्य के समान सगुण ईश्वरवाद में ही सम्भव है——जो ईश्वर हमारे समान एक को प्रेम करते

हैं, दूसरे को नहीं। इस प्रकार की ईश्वर-धारणा के साथ ही पुरस्कार और दण्ड का भाव संगत हो सकता है। संहिताओं में ईश्वर का वर्णन इसी प्रकार दिया गया है। वहाँ इस धारणा के साथ भय भी मिला हुआ था, किन्तु उपनिषदों में यह भय-भाव बिलकुल नहीं मिलता; इसके साथ ही उपनिषदों में हम निर्गुण की धारणा पाते हैं--और प्रत्येक दशा में यह निर्गुण की धारणा करना ही विशेष कठिन होता है। मनुष्य सर्वदा ही सगुण रूप लेकर रहना चाहता है।

बहुत बड़े बड़े विचारक भी, कम से कम संसार जिन्हें बहुत बड़े विचारक मानता है, इस निर्गुणवाद से सहमत नहीं हैं किन्तु मुझे यह सगुणवाद अत्यन्त हास्यास्पद, अत्यन्त निम्न-भावमय तथा क्षुद्र व्यक्तियों के योग्य--यहाँ तक कि अत्यन्त भगवन्निन्दाकर प्रतीत होता है! बालक यदि भगवान् को एक साकार व्यक्ति मान लें तो क्षम्य है, किन्तु वयस्क व्यक्तियों के लिए--चिन्तनशील नर-नारियों के लिए भगवान को एक स्त्री या पुरुष मानना बहुत लज्जास्पद है। प्रश्न उठता है कि उच्चतर भाव कौनसा है--जीवित ईश्वर या मृत ईश्वर?--जिस ईश्वर को कोई देख नहीं सकता, जान नहीं पाता--अथवा जो ईश्वर हमारे सम्मुख चारों ओर प्रकट एवं ज्ञात है? समय समय पर वे जगत् में अपने एक एक दूत को भेज देते हैं जिसके एक हाथ में तलवार रहती है और दूसरे में अभिशाप, और हम यदि उनकी बातों में विश्वास न कर लें तो एकदम विनाश! वे स्वयं आकर क्यों नहीं बताते कि हमें क्या करना चाहिए? वे क्रमशः दूत भेजकर हम लोगों को दण्ड और अभिशाप क्यों दे रहे हैं? किन्तु इसी विश्वास से अनेक व्यक्ति सन्तुष्ट हैं। हम

लोगों की कैसी अधोगति है !

दूसरी ओर निर्गुण ईश्वर को जीवित रूप में हम अपने सम्मुख देख रहे हैं; वे एक तत्त्व मात्र हैं। सगुण-निर्गुण के बीच में भेद यही है कि सगुण ईश्वर, क्षुद्र मानवविशेष मात्र है, और निर्गुण ईश्वर है मनुष्य, पशु, देवता तथा अन्य वह सब जो हम नहीं देख पाते हैं, कारण, सगुण निर्गुण के अन्तर्गत है और निर्गुण सगुण व्यष्टि, समष्टि एवं उसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है। 'जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत् में भिन्न भिन्न रूप से प्रकाशित होती है, और उसके अतिरिक्त भी अग्नि का अस्तित्व है इसी प्रकार निर्गुण भी है।' हम जीवित ईश्वर की पूजा करना चाहते हैं। मैंने सम्पूर्ण जीवन में ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखा। तुमने भी नहीं देखा। इस कुर्सी को देखने से पहले तुम्हें ईश्वर को देखना पड़ता है, उसके बाद उन्हीं के भीतर से कुर्सी को देखना पड़ता है। वे दिन-रात जगत् में रहकर प्रतिक्षण 'मैं हूँ' 'मैं हूँ' कह रहे हैं। जिस क्षण तुम बोलते हो 'मैं हूँ' उसी क्षण तुम उस सत्ता को जान रहे हो। तुम ईश्वर को कहाँ ढूँढ़ने जाओगे, यदि तुम उसे अपने हृदय में, जीवित प्राणियों में नहीं देख पाते—यदि तुम रास्ते से जानेवाले उस बोझा ढोनेवाले कुली में जिसके शरीर से पसीने की धारा बह रही है, नहीं देख पाते ? 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी, त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि, त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।' 'तुम स्त्री, तुम पुरुष, तुम कुमार, तुम कुमारी हो, तुम्हीं वृद्ध होकर लाठी के सहारे चल रहे हो, तुम्हीं सम्पूर्ण जगत् में भिन्न भिन्न रूप में प्रकट हुए हो। तुम्हीं यह सब हो।' कितना अद्भुत 'जीवित

ईश्वर' है--संसार में वे ही एक मात्र वस्तु हैं--यह अनेक लोगों को बड़ा भयंकर प्रतीत होता है। वास्तविक बात यह है कि यह पूर्वपरिचालित ईश्वर-धारणा का विरोधी भाव है; वह ईश्वर-धारणा यह है कि वे किसी विशेष स्थान में किसी आवरण के पीछे छिपे बैठे हैं, उन्हें कोई कभी नहीं देख सकता। पुरोहित लोग हमें केवल यही आश्वासन देते हैं कि यदि हम लोग उनका अनुसरण कर उनकी पद-धूली चाटते रहें और उनकी पूजा करते रहें तो हम लोग इस जीवन में चाहे ईश्वर को न भी देख पायें, किन्तु मरते समय वे हमें एक मुक्ति-पत्र देंगे और तब हम ईश्वर दर्शन कर सकेंगे। इससे यह स्पष्ट ही समझ में आता है कि यह सब स्वर्गवाद ही है, इसके अतिरिक्त और क्या है?--केवल पुरोहितों की दुष्टता।

अवश्य ही निर्गुणवाद अनेक चीज़ें नष्ट कर डालता है, वह पुरोहितों के हाथ से सारा व्यवसाय छीन लेता है, उसके फलस्वरूप मन्दिर, गिरजा आदि सब उड़ जाते हैं। भारत में इस समय दुर्भिक्ष हो रहा है, किन्तु वहाँ ऐसे बहुत से मन्दिर हैं जिनमें अनेक हीरा-जवाहिरात तथा कीमती नग हैं। यदि लोग इस निर्गुण ब्रह्म को जान जायेंगे तो उनका व्यवसाय छिन जायगा। किन्तु हमें यह पुरोहिताई छुड़ानी पड़ेगी। तुम भी ईश्वर, मैं भी वही--तब कौन किसकी आज्ञा पालन करे। कौन किसकी उपासना करे? तुम्हीं ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ मन्दिर हो; मैं किसी मन्दिर में किसी प्रतिमा या किसी शास्त्र की उपासना न कर तुम्हारी ही उपासना करूँगा। लोग इतनी परस्पर विरोधी चिन्ता क्यों करते हैं? लोग कहते हैं, हम ठेठ प्रत्यक्ष-वादी हैं; ठीक बात है किन्तु तुम्हारी उपासना करने की अपेक्षा

और क्या अधिक प्रत्यक्ष हो सकता है ? मैं तुम्हें देख रहा हूँ, तुम्हारा अनुभव कर रहा हूँ और जानता हूँ कि तुम ईश्वर हो। मुसलमान कहते हैं, अल्लाह के सिवाय और कोई ईश्वर नहीं है; किन्तु वेदान्त कहता है, मनुष्य के सिवाय दूसरा ईश्वर नहीं है। यह सुनकर तुममें से बहुतों को भय हो सकता है, किन्तु तुम लोग धीरे धीरे यह समझ जाओगे। जीवित ईश्वर तुम लोगों के साथ रहते हैं, तब भी तुम मन्दिर, गिर्जाघर आदि बनाते हो और सब प्रकार की काल्पनिक झूठी चीज़ों में विश्वास करते हो। मानवात्मा अथवा मनुष्यदेह ही एकमात्र उपास्य ईश्वर है। हाँ, तिर्यग् जाति भी भगवान् के मन्दिर हैं, किन्तु मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है––ताजमहल जैसा। यदि मैं उनकी उपासना नहीं कर सका तो किसी भी मन्दिर से कुछ भी उपकार नहीं होगा। जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य-देहरूपी मन्दिर में उपविष्ट ईश्वर की उपलब्धि कर सकूँगा, जिस क्षण मैं प्रत्येक मनुष्य के सम्मुख भक्तिभाव से खड़ा हो सकूँगा और वास्तव में उनमें ईश्वर देख सकूँगा, जिस क्षण मेरे अन्दर यह भाव आ जायगा, उसी क्षण मैं सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाऊँगा––सभी पदार्थ मेरी दृष्टि से हट जायेंगे।

यही सब से अधिक व्यावहारिक उपासना है। मत-मतान्तर से हमारा कोई प्रयोजन नहीं। किन्तु यह बात कहने से अनेक लोग डर जाते हैं। वे कहते हैं, यह ठीक नहीं है। वे यही सोचे रहते हैं कि उनके वयोवृद्ध परबाबा के बाबा के बाबा बीस हजार वर्ष पहले क्या कह गये हैं, और वे जिनसे कह गये हैं, वे फिर दूसरों से क्या कह गये हैं, आदि आदि। बात यह है कि स्वर्ग के किसी स्थान पर बैठे हुए एक ईश्वर ने किसी व्यक्ति

से कहा--मैं ईश्वर हूँ। उसी समय से केवल मत-मतान्तरों की आलोचना ही चल रही है। उनके मत में यही कामकाज की बात है--और हम लोगों का मत कामकाज में लाने योग्य अथवा व्यावहारिक नहीं है। वेदान्त कहता है, सब अपने अपने रास्ते पर चलें, कोई हर्ज नहीं, किन्तु आदर्श यही है। स्वर्गस्थ ईश्वर आदि की उपासना करना बुरा नहीं, किन्तु ये सब केवल सोपान मात्र हैं, सत्य नहीं। इन सब में सुन्दर एवं महान् भाव हैं, किन्तु वेदान्त पग-पग पर कहता है, बन्धु, तुम जिनकी अज्ञात कहकर उपासना करते हो और सारा जगत् जिन्हें खोजता फिरता है, वे जगत् में सदा ही विराजमान हैं। तुम जो जीवित हो, वह भी वे हैं इसी कारण; वे ही जगत् के नित्यसाक्षी हैं। सम्पूर्ण वेद जिनकी उपासना करते हैं, केवल यही नहीं, जो नित्य 'मैं' में सदा वर्तमान हैं, वे ही हैं इसीलिये सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी है। वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रकाश-स्वरूप हैं। वे यदि तुम्हारे भीतर न हो तो तुम सूर्य को भी न देख पाते, सभी कुछ तुम्हारे लिये अन्धकारमय जड़राशि--शून्य के समान प्रतीत होता। वे ही प्रकाशित हैं, इसीलिये तुम जगत् को देख रहे हो।

इस विषय में साधारणतया एक प्रश्न पूछा जाता है और वह यह है कि इस विचार-धारा से बहुत गड़बड़ी हो जाने की सम्भावना है। हम सभी यह सोचेंगे कि मैं ईश्वर हूँ--जो कुछ मैं सोचता हूँ या करता हूँ वही अच्छा है--क्योंकि ईश्वर को भला पाप क्या? इसका उत्तर यह है कि पहले यदि इस प्रकार की विपरीत व्याख्यारूप आशंका की सम्भावना मान भी ली जाय तब भी क्या यह प्रमाणित किया जा सकता है कि दूसरे पक्ष में भी यही आशंका नहीं उत्पन्न होगी? लोग अपने से पृथक्

स्वर्गस्थित ईश्वर की उपासना करते हैं, उससे खूब डरते भी हैं। वे लोग भय से काँपते रहते हैं और सारा जीवन इसी प्रकार काँपते हुए काट देते हैं। तो क्या दुनिया ऐसा मान लेने पर भी पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी हो गई है ? तुम भी दूसरे से यही पूछ रहे थे। विचार करो कि जो सगुण ईश्वरवाद मानकर उसकी उपासना करते हैं और जो निर्गुण ईश्वर तत्त्व को समझकर निर्गुण की उपासना करते हैं, इन दोनों में से किसके सम्प्रदाय में संसार के बड़े बड़े महापुरुष हो गए हैं ? महान् कर्मयोगी--महा चरित्रवान ! निश्चय ही ऐसे महापुरुष निर्गुण साधकों के बीच ही हुए हैं। भयभीत व्यक्ति क्या कभी 'चरित्रवान या बलवान पुरुष हो सकता है ? नहीं, कभी नहीं। जहाँ एक दूसरे को देखता है, जहाँ एक दूसरे की हत्या करता है, वहीं माया है। जहाँ एक दूसरे को नहीं देखता, एक दूसरे की हत्या नहीं करता, जहाँ सर्व आत्ममय हो जाता है, वहाँ फिर माया नहीं टिकती।' तब सभी 'वे' हैं अथवा सभी 'मैं' है--तब आत्मा पवित्र हो जाती है। तभी--और केवल तभी हम प्रेम किसे कहते हैं, यह समझ सकते हैं। डर से क्या ऐसा प्रेम हो सकता है ? प्रेम की भित्ति है, स्वाधीनता। स्वाधीनता--मुक्तस्वभाव होने पर ही प्रेम होता है। तभी हम लोग वास्तव में जगत् को स्नेह करना प्रारम्भ करते हैं और विश्वबन्धुत्व का अर्थ समझते हैं--अन्यथा नहीं।

इसलिये यह कहना उचित नहीं है कि इस निर्गुण मत से समस्त संसार में भयानक पापधारा बह उठेगी तथा दूसरे मत से दुनिया कभी भी अन्याय की ओर नहीं जायगी, अथवा सारी दुनिया खून में रंगने से बच जायगी, या लोग आपस में अलग

अलग होकर साम्प्रदायिकता की जड़ नहीं जमा देंगे। वे कहते हैं, मेरा ईश्वर ही सर्वश्रेष्ठ है। इसका प्रमाण ? आओ, हम दोनों लड़ लें---यही प्रमाण है। द्वैतवाद से यही गड़बड़ी सारी दुनिया में फैल गई है। क्षुद्र और संकीर्ण रास्तों में न जाकर प्रशान्त उज्ज्वल दिन के प्रकाश में आओ। महान् अनन्त आत्मा संकीर्ण भावों में कैसे बँधी रह सकती है ? हमारे सम्मुख यह प्रकाशमय ब्रह्माण्ड है, इसकी प्रत्येक वस्तु हमारी है। अपनी बाहें फैलाकर सम्पूर्ण जगत् का प्रेमालिंगन करने की चेष्टा करो। यदि कभी ऐसा करने की इच्छा हो तभी समझो कि तुम्हें ईश्वर का अनुभव हुआ है।

बुद्धदेव के जीवन-चरित्र में तुम्हें वह अंश अवश्य ही स्मरण होगा कि वे किस प्रकार उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, ऊपर, नीचे सर्वत्र ही प्रेम की विचार-धारा बहा देते थे, जब तक कि चारों ओर वही महान् अनन्त प्रेम नहीं छा जाता था। इसी प्रकार जब तुम लोगों का भी यही भाव होगा, तब तुम्हारा भी यथार्थ व्यक्तित्व प्रकट होगा। तभी सम्पूर्ण जगत् एक व्यक्ति बन जाएगा--- क्षुद्र वस्तुओं की ओर फिर मन नहीं जाएगा। इस अनन्त सुख के लिये छोटी छोटी वस्तुओं का परित्याग कर दो। इन सब क्षुद्र सुखों से तुम्हें क्या लाभ होगा ? और वास्तव में तो तुम्हें इन छोटे छोटे सुखों को भी छोड़ना नहीं पड़ता, कारण, तुम लोगों को याद होगा कि सगुण निर्गुण के अन्तर्गत है, जो कि मैं पहिले ही कह चुका हूँ। अतएव ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों ही है। मनुष्य---अनन्तस्वरूप निर्गुण मनुष्य भी---अपने को सगुण रूप में, व्यक्ति रूप में देख रहे हैं; मानो हम अनन्तस्वरूप होकर भी अपने को क्षुद्र क्षुद्र रूपोंमें

सीमाबद्ध बना डालते हैं। वेदान्त कहता है, इसका कारण न समझ सकने पर भी इतना कहा जा सकता है कि यह हमारा प्रतिदिन का प्रत्यक्ष अनुभव है जो कभी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हम लोग अपने कर्मद्वारा अपने को सीमाबद्ध कर डालते हैं और उसीने मानो हमारे गले में शृंखला डालकर हमें आबद्ध कर रखा है। शृंखला तोड़ डालो और मुक्त हो जाओ। नियम को पैरों तले कुचल डालो। मनुष्य के प्रकृत-स्वरूप में कोई विधि नहीं, कोई दैव नहीं, कोई अदृष्ट नहीं। अनन्त में विधान या नियम कैसे रह सकते हैं? स्वाधीनता ही इसका मूलमन्त्र है, स्वाधीनता ही इसका स्वरूप है——इसका जन्मसिद्ध अधिकार है। पहले मुक्त बनो, तब फिर जितना क्षुद्र व्यक्तित्व रखना चाहो रखो। तब हम लोग रंगमञ्च पर अभिनेताओं के समान अभिनय करेंगे। जिस प्रकार एक यथार्थ राजा भिखारी के वेश में रंगमञ्च पर आता है और इधर वास्तविक भिखारी रास्ते-रास्ते में भटकता फिरता है, देखो, दोनों में कितना अन्तर है! यद्यपि दृश्य दोनों ओर एक है, वर्णन करन में भी एक-सा है, किन्तु दोनों में कितना भेद है! एक व्यक्ति भिक्षुक का अभिनय कर आनन्द ले रहा है, और दूसरा सचमुच दु:ख-कष्ट से पीड़ित है। ऐसा भेद क्यों होता है? कारण, एक मुक्त है और दूसरा बद्ध। राजा जानता है कि उसकी यह निर्धनता सत्य नहीं है, उसने यह केवल अभिनय के लिये स्वीकार की है, किन्तु यथार्थ भिक्षुक जानता है कि यह उसकी चिरपरिचित अवस्था है, एवं उसकी इच्छा हो या न हो, उसे वह कष्ट सहना ही पड़ेगा। उसके लिये यह अभेद्य नियम के समान है और इसीलिए उसे कष्ट उठाना ही पड़ता है। हम तुम

जब तक अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते तब तक हम लोग केवल भिक्षुक हैं, प्रकृति के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु ने ही हमें दास बना रखा है। हम सम्पूर्ण जगत् में सहायता के लिये चीत्कार करते हुए फिरते हैं--अन्त में काल्पनिक जीवगण के पास भी हम सहायता माँगते हैं, पर सहायता कभी नहीं मिलती; तो भी हम सोचते हैं कि इस बार सहायता मिलेगी। इस प्रकार हम सर्वदा आशा लगाये बैठे रहते हैं। बस, इसी बीच एक जीवन बीत जाता है, और फिर वही खेल चलने लगता है।

मुक्त होओ; किसी दूसरे के पास से कुछ न चाहो। मैं यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि यदि तुम अपने जीवन की अतीत घटनाएँ याद करो तो देखोगे कि तुम सदैव व्यर्थ ही दूसरों से सहायता पाने की चेष्टा करते रहे, किन्तु कभी पा नहीं सके; जो कुछ सहायता पाई है वह अपने अन्दर से ही थी। तुम स्वयं जिसके लिये चेष्टा करते हो उसे ही फल-रूप में पाते हो; तथापि कितना आश्चर्य है कि तुम सदैव ही दूसरे से सहायता की भीख माँगते रहते हो ! धनियों के बैठक-खाने में यदि क्षणभर बैठकर देखो तो एक तमाशा-सा देखोगे। तुम देखोगे कि बैठकखाना सर्वदा ही पूर्ण है किन्तु इस समय वहाँ जो लोग हैं, कुछ समय के बाद वे ही लोग वहाँ दिखाई नहीं पड़ेंगे--सदैव वे लोग आशा लगाये रहते हैं कि धनियों के पास से कुछ माँग कर लायेंगे, किन्तु ऐसा कर नहीं पाते। हमारा जीवन भी उसी प्रकार का है, हम केवल आशा किए चले जा रहे हैं, उनका अन्त नहीं। वेदान्त कहता है, इसी आशा का परित्याग करो। क्यों आशा करते हो ? तुम्हारे पास सब कुछ है।

तुम आत्मा हो, तुम सम्राट-स्वरूप हो, तुम भला किसकी आशा करते हो ? यदि राजा पागल होकर अपने देश में 'राजा कहाँ है, राजा कहाँ है' कहकर खोजता फिरे तो वह कभी राजा को नहीं पा सकता, क्योंकि वह स्वयं ही राजा है । वह अपने राज्य के प्रत्येक ग्राम में, प्रत्येक नगर में--यहाँ तक कि प्रत्येक घर में खोज करे, खूब रोए-चिल्लाए फिर भी राजा का पता नहीं लग सकता; क्योंकि वह व्यक्ति स्वयं ही राजा है। इसी प्रकार हम लोग यदि जान सकें कि हम राजा हैं और इस राजान्वेषणरूपी व्यर्थ चेष्टा को छोड़ सकें तो बहुत ही अच्छा हो । वेदान्त कहता है, इस प्रकार अपने को राजस्वरूप जान लेने पर ही हम सन्तुष्ट और सुखी हो सकते हैं । यह सब पागलों-जैसी चेष्टा छोड़कर जगत्रूपी मंच पर एक अभिनेता के समान कार्य करते चलो ।

इस प्रकार की अवस्था आने से हम लोगों की दृष्टि परिवर्तित हो जाती है । अनन्त कारागार-स्वरूप न होकर यह जगत् खेलने का स्थान बन जाता है । प्रतियोगिता की जगह न बनकर यह भौरों के गुञ्जन से परिपूर्ण वसन्त काल का रूप धारण कर लेता है । पहले जो जगत् नरककुण्ड जैसा लगता था वही अब स्वर्ग बन जाता है । बद्ध जीव की दृष्टि में यही एक महायंत्रणा का स्थान है किन्तु मुक्त व्यक्ति की दृष्टि में यही स्वर्ग है; स्वर्ग अन्यत्र नहीं है। एक ही प्राण सर्वत्र विराजित है । पुनर्जन्म आदि जो कुछ है सब यहीं होता है । देवतागण सब यहीं हैं--वे मनुष्य के आदर्श के अनुसार कल्पित हैं । देवताओं ने मनुष्यों को अपने आदर्श के अनुसार नहीं बनाया किन्तु मनुष्यों ने ही देवताओं की सृष्टि की है--जैसे कि इन्द्र, वरुण और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के देवता । तुम्हीं लोग अपने एक

अंश को बाहर प्रक्षिप्त करते हो किन्तु वास्तव में तुम्हीं असली वस्तु हो—तुम्हीं प्रकृत उपास्य देवता हो। यही वेदान्त का मत है और इसीलिये यह यथार्थ में कार्य में लाने योग्य है। यह नहीं कि हम लोग मुक्त होने पर उन्मत्त हो समाज-त्याग कर दें और जंगलों अथवा गुफाओं में जाकर मर जायँ। तुम जहाँ थे वहीं रहोगे, किन्तु भेद इतना ही होगा कि तुम सम्पूर्ण जगत् का रहस्य समझ जाओगे। पहले देखी हुई समस्त वस्तुएँ जैसी की तैसी ही रहेंगी किन्तु उनका एक नवीन अर्थ समझने लगोगे। तुम अभी जगत् का स्वरूप नहीं जानते हो; केवल मुक्त होने पर ही इसका स्वरूप जाना जा सकेगा। इसलिये हम देखते हैं कि यह तथाकथित विधि, दैव या अदृष्ट हम लोगों की प्रकृति का एक अत्यन्त क्षुद्र अंश मात्र है। यह हम लोगों की प्रकृति का केवल एक पहलू मात्र है, दूसरी दिशा में मुक्ति सदा विराजमान है और हम लोग शिकारी द्वारा पीछा किए गए खरगोश के समान मिट्टी में अपना सिर छिपाकर अपने को अशुभ से बचाना चाहते हैं।

अतएव देखा गया कि हम भ्रमवश अपना स्वरूप भूलने की चेष्टा करते हैं, किन्तु वह एकदम भूला नहीं जा सकता—सदैव ही वह किसी न किसी रूप में हमारे सामने आता ही है। हम जिन देवता, ईश्वर आदि का अनुसन्धान करते हैं, बाह्य जगत् में स्वाधीनता पाने के लिये हम जो प्राणपण से चेष्टा करते रहते हैं, वह सब और कुछ नहीं—हम लोगों की मुक्त प्रकृति ही मानो किसी न किसी रूप में अपने को प्रकाशित करने का यत्न कर रही है। कहाँ से यह आवाज़ आ रही है, यह जानने में हम लोगों ने भूल की है। हम लोग पहले सोचते

हैं, यह आवाज़ अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारा अथवा किसी देवता से आती है––अन्त में हम लोग देखते हैं कि यह तो हम लोगों के अन्दर ही है। यह वही अनन्त वाणी अनन्त मुक्ति का समाचार देती है। यह संगीत अनन्त काल से चला आ रहा है। आत्म-संगीत का कुछ अंश इस नियमाबद्ध ब्रह्माण्ड, इस पृथ्वी के रूप में परिणत हुआ है, किन्तु यथार्थतः हम लोग आत्मस्वरूप हैं और चिरकाल तक आत्मस्वरूप ही रहेंगे। एक शब्द में वेदान्त का आदर्श है––जगत् में मनुष्य की उपासना, और वेदान्त की यही घोषणा है कि यदि तुम व्यक्त ईश्वररूप अपने भाई की उपासना नहीं कर सकते तो वेदान्त तुम्हारी उपासना में विश्वास नहीं करता।

क्या तुम लोगों को बाइबिल की वह कथा याद नहीं कि यदि तुम अपने भाई को जिसे तुम देख रहे हो, प्यार नहीं कर सकते तो ईश्वर को, जिसे तुमने कभी नहीं देखा, भला कैसे प्यार कर सकोगे? यदि तुम ईश्वर को मनुष्य में नहीं देख सकते तो उसे मेघ अथवा अन्य किसी मृत जड़ पदार्थ में अथवा अपने मस्तिष्क की कल्पित कथाओं में कैसे देखोगे? जिस दिन से तुम नर-नारियों में ईश्वर देखने लगोगे उसी दिन से मैं तुम्हें धार्मिक कहूँगा, और तभी तुम लोग समझोगे कि दाहिने गाल पर थप्पड़ मारने पर मारनेवाले के सामने बाँया गाल फिराने का क्या अर्थ है। जब तुम मनुष्य को ईश्वररूप में देखोगे तब सभी वस्तुओं का, यहाँ तक कि यदि तुम्हारे पास बाघ तक आ जाय, तो उसका भी तुम स्वागत करोगे। जो कुछ तुम्हारे पास आता है वह सब अनन्त आनन्दमय प्रभु का भिन्न भिन्न रूप ही है––वे ही हमारे माता, पिता और बन्धु हैं। हमारी अपनी

आत्मा ही हमारे साथ खेल कर रही है।

भगवान को पिता कहने की अपेक्षा एक और उच्चतर भाव है--साधक लोग उन्हें 'माता' कहते हैं। फिर इससे भी एक पवित्रतर भाव है--उन्हें 'प्रिय सखा' कहना। उसकी अपेक्षा एक और श्रेष्ठ भाव है--उन्हें अपना प्रेमास्पद कहना। इसका कारण यही है कि प्रेम और प्रेमास्पद में कुछ भेद न देखनाहि सर्वोच्च भाव है। तुम लोगों को वह प्राचीन फारसी कहानी याद होगी। एक प्रेमी ने आकर अपने प्रेमास्पद के घर का दरवाजा खटखटाया। प्रश्न हुआ, 'कौन है?' वह बोला, 'मैं'। द्वार नहीं खुला। दुबारा फिर उसने कहा, 'मैं आया हूँ,' पर द्वार फिर भी न खुला। तीसरी बार वह फिर आया, प्रश्न हुआ, 'कौन है?' तब उसने कहा, 'प्रेमास्पद, मैं तुम हूँ,' तब द्वार खुल गया। भगवान् और हमारे बीच सम्बन्ध भी ठीक ऐसा ही है वे सब में हैं और वे ही सब कुछ हैं। प्रत्येक नरनारी ही वही प्रत्यक्ष जीवन्त आनन्दमय एकमात्र ईश्वर है। कौन कहता है, वह अज्ञात है, कौन कहता है उसे खोजना पड़ेगा? हमने उसे अनन्त काल के लिये पाया है। हम उसी में अनन्त काल तक रहते हैं--वह सर्वत्र अनन्त काल के लिये ज्ञात है और वही अनन्त काल से उपासित हो रहा है।

एक और बात इसी प्रसंग में जाननी होगी। वेदान्त कहता है--दूसरे प्रकार की उपासनायें भी भ्रमात्मक नहीं हैं। यह विषय कभी न भूलना चाहिए कि जो अनेक प्रकार के कर्म-काण्ड द्वारा भगवत्-उपासना करते हैं--हम इन कर्मों को चाहे कितना ही अनुपयोगी क्यों न मानें--वे लोग वास्तव में भ्रान्त नहीं हैं। कारण, लोग सत्य से सत्य की ओर, निम्नतर

सत्य से उच्चतर सत्य की ओर आगे बढ़ते हैं। अन्धकार कहने से समझना चाहिए, स्वल्प प्रकाश; बुरा कहने से समझना चाहिए, थोड़ा अच्छा; अपवित्रता कहने से समझना चाहिए, स्वल्प पवित्रता। अतएव सत्य धारणा का यह भी एक पहलू है कि हम लोगों को दूसरों को प्रेम और सहानुभूति की दृष्टि से देखना चाहिए। हम लोग जिस रास्ते से आ रहे हैं, वे भी उसी रास्ते से चल रहे हैं। यदि तुम वास्तव में मुक्त हो तो तुम्हें अवश्य ही यह समझना चाहिए कि वे भी आगे-पीछे मुक्त होंगे। और जब तुम मुक्त ही हो गये तो फिर जो अनित्य है उसे तुम किस प्रकार देख पाओगे ? यदि तुम वास्तव में पवित्र हो तो तुम्हें अपवित्रता कैसे दिखाई दे सकती है ? कारण, जो भीतर है वही बाहर दीख पड़ता है। हमारे अन्दर यदि अपवित्रता न होती तो हम उसे बाहर कभी देख ही न पाते। वेदान्त की यह भी एक साधना है। आशा है, हम लोग सभी जीवन में इसको व्यवहार में लाने की चेष्टा करेंगे। इसका अभ्यास करने के लिए सारा जीवन पड़ा है, किन्तु इन सब विचारों की आलोचना से हमें यह ज्ञात हुआ है कि अशान्ति और असन्तोष के बदले हम शान्ति और सन्तोष के साथ कार्य करें। कारण, हमने जान लिया है कि सभी कुछ हमारे अन्दर है—वह हमीं लोगों का है—वह हमारा जन्मजात अधिकार है। हमें आवश्यक है केवल उसको प्रकाशित करना, प्रत्यक्ष अनुभव करना।

व्यावहारिक जीवन में वेदान्त

तृतीय व्याख्यान

(१७ नवम्बर, सन् १८९६ ई. को लन्दन में दिया हुआ भाषण।)

पूर्वोक्त (छान्दोग्य) उपनिषद् में हमने देखा है कि देवर्षि नारद एक समय सनत्कुमार के पास आकर अनेक प्रश्न पूछने लगे। सनत्कुमार उन्हें सोपानारोहण-न्याय के अनुसार धीरे धीरे ले जाते हुए अन्त में आकाशतत्त्व में जा पहुँचे। 'आकाश तेज से भी श्रेष्ठ है, कारण, आकाश में ही चन्द्र, सूर्य, विद्युत्, नक्षत्र आदि सभी कुछ वर्तमान हैं। आकाश में ही हम श्रवण करते हैं, आकाश में ही जीवन धारण करते हैं, आकाश में ही मरते हैं।' अब प्रश्न यह है कि क्या आकाश से भी कुछ श्रेष्ठ है? सनत्-कुमार ने कहा, 'प्राण आकाश से भी श्रेष्ठ है।' वेदान्त मत में यह प्राण ही जीवन की मूलभूत शक्ति है। आकाश के समान यह भी एक सर्वव्यापी तत्त्व है, और हमारे शरीर में अथवा अन्यत्र जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वह सभी प्राण का कार्य है। प्राण आकाश से भी श्रेष्ठ है। प्राण के द्वारा ही सभी वस्तुएँ जीवित रहती हैं, प्राण ही माता, प्राण ही पिता, प्राण ही भगिनी, प्राण ही आचार्य और प्राण ही ज्ञाता है।

मैं तुम लोगों के लिए इसी उपनिषद् में से एक अंश और पढ़ूंगा। श्वेतकेतु अपने पिता आरुणि से सत्य के सम्बन्ध में प्रश्न

करने लगे। पिता ने उन्हें अनेक विषयों की शिक्षा देकर अन्त में कहा, 'इन सब वस्तुओं का जो सूक्ष्म कारण है उसी से ये सब बनी हैं, यही सब कुछ है, यही सत्य है, हे श्वेतकेतो, तुम भी वही हो।' तदनन्तर वे यही समझाने के लिये अनेक उदाहरण देने लगे। "हे श्वेतकेतो, जिस प्रकार मधुमक्षिका विभिन्न पुष्पों से मधु संचय कर एकत्र करती है एवं ये विभिन्न मधुकण जिस प्रकार यह नहीं जानते कि वे कहाँ से आये हैं, उसी प्रकार हम सब उसी 'एकमेवाद्वितीयं' सत् से आकर भी उसे भूल गये हैं। अतएव हे श्वेतकेनो, तुम वही हो। जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ विभिन्न स्थानों में उत्पन्न होकर समुद्र में गिरती हैं, किन्तु जैसे ये नदियाँ अपने उद्गम-स्थान को नहीं जानतीं, वैसे ही हम सब उसी सत्स्वरूप से आकर भी यह नहीं जानते कि हम वही हैं। हे श्वेतकेतो, तुम वही हो।" इस प्रकार पिता पुत्र को उपदेश देने लगे।

अब बात यह है कि, सम्पूर्ण ज्ञानप्राप्ति के दो मूल सूत्र हैं। एक सूत्र तो यह है कि विशेष को साधारण में और साधारण को सार्वभौमिक तत्त्व में एकरूप करके ज्ञान-लाभ करना होगा। दूसरा सूत्र यह है कि यदि किसी वस्तु की व्याख्या करनी हो तो, जहाँ तक हो सके, उसी वस्तु के स्वरूप से उसकी व्याख्या खोजनी चाहिए। पहले सूत्र के आधार पर हम देखते हैं कि हमारा सारा ज्ञान वास्तव में उच्च से उच्चतर श्रेणी-विभाग मात्र है। जब कुछ एक घटना होती है तो मानो हम अतृप्त रहते हैं। जब यह दिखा दिया जाता है कि वही एक घटना बार बार घटती है तब हम सन्तुष्ट होते हैं और उसे 'नियम' कहते हैं। जब हम एक पत्थर या सेव को जमीन पर गिरते देखते हैं तब हम लोग अतृप्त

रहते हैं। किन्तु जब देखते हैं कि सभी पत्थर या सेव गिरते हैं तो हम उसे माध्याकर्षण का नियम कहते हैं और सन्तुष्ट हो जाते हैं। बात यह है कि हम विशेष से साधारण तत्त्व की ओर बढ़ते रहते हैं। धर्मतत्त्व की आलोचना करने का यही एकमात्र वैज्ञानिक मार्ग है।

हम देखते हैं कि धर्मतत्त्व की आलोचना करने और उसे वैज्ञानिक रीति से समझने में इसी मूल सूत्र का अनुसरण करना होगा। वास्तव में यहाँ पर भी हम यही बात देखते हैं। इन उपनिषदों में भी, जिनसे मैं तुम्हें कुछ अंश सुना रहा हूँ, यही भाव--विशेष से साधारणीकरण--लिया गया है। हम इनमें देखते हैं कि किस प्रकार देवगण क्रमशः एक में विलीन होकर एक तत्त्व-रूप में परिणत हो रहे हैं, समग्र विश्व की धारणा में भी ये प्राचीन विचारकगण क्रमशः किस प्रकार अग्रसर हो रहे हैं, किस प्रकार वे सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्मतर तथा अधिक व्यापक भूतों की ओर बढ़ रहे हैं, कैसे वे विशेष विशेष भूतों से प्रारंभ कर अन्त में एक सर्वव्यापी आकाश-तत्त्व में आ गए हैं, और कैसे वहाँ से भी आगे बढ़कर वे प्राण नामक सर्वव्यापिनी शक्ति में आ रहे हैं, और इन सभी में हम यही एक तत्त्व पाते हैं कि कोई भी वस्तु अन्य सब वस्तुओं से अलग नहीं है। आकाश ही सूक्ष्मतर रूप में प्राण है और प्राण ही स्थूल बनकर आकाश होता है तथा आकाश स्थूल से स्थूलतर हो जाता है इत्यादि इत्यादि।

सगुण ईश्वर को उससे भी ऊँचे तत्त्व में समाहित करना भी इसी मूल सूत्र का और एक उदाहरण है। हमने पहले ही देखा है कि सगुण ईश्वर की धारणा भी इसी प्रकार के साधारणीकरण का फल है। इससे केवल इतना ही समझा गया कि

सगुण ईश्वर सम्पूर्ण ज्ञान का समष्टि-स्वरूप है। किन्तु उसमें एक शंका उठती है कि यह तो पर्याप्त साधारणीकरण नहीं हुआ! हमने प्राकृतिक घटना की एक दिशा, अर्थात् ज्ञान की दिशा लेकर साधारणीकरण किया और सगुण ईश्वर तक आ पहुँचे किन्तु शेष प्रकृति तो छूट ही गई। अतएव पहले तो यह साधारणीकरण अपूर्ण ही हुआ। दूसरे, इसमें एक और भी अधूरापन है, उसे दूसरे सूत्र द्वारा समझना होगा। प्रत्येक वस्तु की उसके स्वरूप ही से व्याख्या करनी चाहिए। एक समय लोग सोचते थे कि जमीन पर पत्थर का गिरना भूत द्वारा होता है, किन्तु वास्तव में यह शक्ति माध्याकर्षण की है। और यद्यपि हम यह जानते हैं कि केवल यही इसकी सम्पूर्ण व्याख्या नहीं है तथापि यह निश्चित है कि यह पहली व्याख्या से श्रेष्ठ है; कारण पहली व्याख्या है वस्तु के बाहरी कारण को लेकर, और दूसरी उसके स्वभाव से सिद्ध होती है। इस प्रकार हम लोगों के सारे ज्ञान के सम्बन्ध में जो व्याख्या वस्तु के स्वभाव से सिद्ध है, वह वैज्ञानिक है और जो व्याख्या वस्तु के बाह्य रूप से सिद्ध है, वह अवैज्ञानिक है।

अब "सगुण ईश्वर ही जगत् का सृष्टिकर्ता है" इस तत्त्व की भी इसी सूत्र द्वारा परीक्षा की जाय। यदि यह ईश्वर प्रकृति के बाहर है और प्रकृति के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है तथा यदि यह प्रकृति शून्य में से, उस ईश्वर की आज्ञा से बनती है तब तो यह मत अपने आप अवैज्ञानिक हुआ। और सगुण ईश्वरवाद में सदैव से यही कुछ गड़बड़ी है--यही इसकी कमजोरी है। इस मत में ईश्वर मनुष्य के गुणों से भरा है, केवल ये गुण उसमें मनुष्यों की अपेक्षा अधिक बढ़े चढ़े हैं। उन्होंने

शून्य में से जगत् की सृष्टि की है और वे इस जगत् से बिलकुल अलग भी हैं, ऐसा कहने से ईश्वरवाद में दो दोष दिखाई पड़ते हैं।

हम पहले ही कह चुके हैं कि पहले तो यह सामान्य का पूर्ण समाधान नहीं है। दूसरे, यह वस्तु की स्वभावसिद्ध व्याख्या भी नहीं है। यह कार्य को कारण से भिन्न बताता है। किन्तु मनुष्य का ज्ञान जैसे जैसे बढ़ता जा रहा है वैसे वैसे वह इस मत की ओर अग्रसर हो रहा है कि कार्य कारण का रूपान्तर मात्र है। आधुनिक विज्ञान के सम्पूर्ण आविष्कार इसी ओर इशारा करते हैं और क्रमविकास-वाद का तात्पर्य भी यही है कि कार्य कारण का रूपान्तर मात्र है। आधुनिक वैज्ञानिक तो शून्य से सृष्टि-रचना के सिद्धान्त की हँसी उड़ाते हैं।

धर्म क्या पूर्वोक्त दोनों परीक्षाओं में सफल हो सकता है? यदि ऐसा कोई धर्ममत हो जो इन दो परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाय तो उसी को आधुनिक विचारशील ग्राह्य मानते हैं। यदि पुरोहित, चर्च अथवा किसी शास्त्र का अनुसरण करके किसी मत में विश्वास करने के लिये कहा जाय तो आजकल के लोग उसमें विश्वास नहीं कर सकते, इसका फल होगा—घोर अविश्वास। जो बाहर से देखने पर पूर्ण विश्वासी मालूम पड़ते हैं वे अन्दर से देखने पर घोर अविश्वासी निकलते हैं। अन्त में लोग धर्म को एकदम छोड़ देते हैं, उससे दूर भागते हैं, उसे पुरोहितों की धोखेबाजी समझते हैं।

धर्म भी अब एक जातीय रूप में परिणत हो गया है। 'वह हमारे प्राचीन समाज का एक महान् उत्तराधिकार है, अतएव उसे रहने दो'—आज हम लोगों का यही भाव है। आजकल

के लोगों के पुरखे उसमें ज़ो अभिरुचि रखते थे वह आजकल के लोगों में नाममात्र को नहीं; लोगों को अब यह बुद्धि-संगत नहीं जान पड़ता। इस प्रकार की सगुण ईश्वर और सृष्टि की धारणा से, जिसे सब लोग एकेश्वरवाद कहते हैं, लोगों को आत्मसन्तोष नहीं होता और भारत में बौद्ध धर्म के प्रभाव से यह अधिक बढ़ा भी नहीं; और इसी विषय में बौद्धगण प्राचीन काल में जीत भी गये थे। बौद्धों ने यह प्रमाणित कर दिखाया था कि यदि प्रकृति को अनन्त शक्तिसम्पन्न मान लिया जाय, और यदि प्रकृति अपने अभाव को अपने आप ही पूरा कर सकती है तो प्रकृति के अतीत और भी कुछ है, यह मानना अनावश्यक है। आत्मा के अस्तित्व को मानने का भी कोई प्रयोजन नहीं है। इस विषय पर प्राचीन काल से ही वादविवाद चलता आरहा है। इस समय भी वही प्राचीन कुसंस्कार--द्रव्य-गुण-विचार--मौजूद है।

मध्यकालीन यूरोप में यहाँ तक कि, मुझे दु:ख के साथ कहना पड़ता है, उसके बहुत दिनों बाद तक यही एक विशेष विचारणीय विषय था कि गुण द्रव्याश्रित हैं अथवा द्रव्य गुणाश्रित ? लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई क्या जड़ पदार्थ नामक द्रव्यविशेष के आश्रित हैं ? और इन गुणों के न रहने पर भी द्रव्य का अस्तित्व रहता है या नहीं ? बौद्ध लोग कहते हैं कि इस प्रकार के किसी द्रव्य का अस्तित्व स्वीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं है, केवल इन गुणों का ही अस्तित्व है। इन गुणों के अतिरिक्त तुम और कुछ नहीं देख पाते और अधिकांश आधुनिक अज्ञेयवादियों का भी यही मत है, क्योंकि इसी द्रव्य-गुण-विचार को कुछ और ऊँचा ले जाइये तो प्रतीत होगा कि

यह व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता का विचार बन जाता है। हमारे सम्मुख यह दृश्य जगत्--नित्य परिणामशील जगत् है और इसी के साथ ऐसी कोई वस्तु है जिसमें कभी परिणाम नहीं होता; और कोई कोई कहते हैं, इन दो पदार्थों का ही अस्तित्व है। कोई कोई और भी अधिक प्रमाण के साथ कहते हैं कि हमें इन दोनों पदार्थों के मानने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि हम जो कुछ देखते हैं, अनुभव करते हैं अथवा सोचते हैं, वे केवल दृश्य पदार्थ हैं। दृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ के मानने का तुम्हें अधिकार नहीं। इस बात का पूर्ण संगत उत्तर प्राचीन काल में कोई भी नहीं दे सका। केवल वेदान्त का अद्वैतवाद ही हमें इसका उत्तर देता है,--एक ही वस्तु का अस्तित्व है, वही कभी द्रष्टा के रूप में और कभी दृश्य के रूप में प्रकाशित होती है। यह कहना ठीक नहीं कि परिणामशील वस्तु की कोई सत्ता है और उसी के अन्दर अपरिणामी वस्तु भी है, किन्तु वही एक वस्तु जो परिणामशील प्रतीत होती है, वास्तव में अपरिणामी है।

समझ में आने योग्य कुछ दार्शनिक धारणा करने के उद्देश्य से हम लोग देह, मन, आत्मा आदि अनेक भेद कर लेते हैं किन्तु वास्तव में सत्ता एक ही है। वह एक ही वस्तु अनेक रूपों में प्रतीत होती है। अद्वैतवादियों की चिरपरिचित उपमा का यदि हम उपयोग करें तो यही कहना पड़ेगा कि रज्जु ही सर्पाकार में प्रतीत होती है। अन्धेरे से अथवा अन्य किसी कारणवश बहुत से लोग रस्सी को ही साँप समझ लेते हैं, किन्तु ज्ञानोदय होने पर सर्पभ्रम नष्ट हो जाता है और केवल रस्सी ही दीख पड़ती है। इस उदाहरण द्वारा हम यह भलीभाँति समझ सकते हैं कि

मन में जब सर्पज्ञान रहता है तब रज्जुज्ञान नहीं रहता और जब रज्जुज्ञान रहता है तब सर्पज्ञान नहीं टिकता। जब हम व्यावहारिक सत्ता देखते हैं, तब पारमार्थिक सत्ता नहीं रहती और जब हम उस अपरिणामी पारमार्थिक सत्ता को देखते हैं तो निश्चय ही फिर व्यावहारिक सत्ता प्रतीत नहीं होती। अब हम प्रत्यक्षवादी और विज्ञानवादी (Idealist)—इन दोनों के मत खूब स्पष्ट रूप से समझ रहे हैं। प्रत्यक्षवादी केवल व्यावहारिक सत्ता देखता है और विज्ञानवादी पारमार्थिक सत्ता देखने की चेष्टा करता है। प्रकृत विज्ञानवादियों के लिए, जो अपरिणामी सत्ता का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, फिर परिणामशील जगत् का अस्तित्व नहीं रह जाता। उन्हीं को यह कहने का अधिकार है कि समस्त जगत् मिथ्या है और परिणाम नामक कोई चीज़ नहीं है। किन्तु प्रत्यक्षवादी केवल परिणामशील की ओर ही दृष्टि रखते हैं। उनके लिये अपरिणामी सत्ता नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, अतएव उन्हें जगत् को सत्य कहने का अधिकार है।

इस विचार का फल क्या हुआ? फल यही हुआ कि ईश्वर के विषय में सगुण धारणा करना ही पर्याप्त नहीं। हम लोगों को और भी उच्चतर धारणा अर्थात् निर्गुण की धारणा करनी चाहिये। उनके द्वारा सगुण धारणा नष्ट हो जायगी, सो बात नहीं। हमने यह नहीं प्रमाणित किया कि सगुण ईश्वर नहीं है, किन्तु हमने यही दिखाया कि हमने जो प्रमाणित किया है केवल वही न्यायसंगत सिद्धान्त है। मनुष्य को भी हम इसी प्रकार सगुण-निर्गुण उभयात्मक कह सकते हैं। हम सगुण भी हैं और निर्गुण भी। अतएव हम लोगों की प्राचीन ईश्वर-धारणा

अर्थात् ईश्वर की केवल सगुण धारणा कि वह केवल एक व्यक्ति ही है अवश्य चली जानी चाहिए; कारण मनुष्य को जिस प्रकार सगुण-निर्गुण दोनों ही कहा जा सकता है, उसी प्रकार कुछ और अधिक उच्च स्तर पर ईश्वर को भी सगुण-निर्गुण दोनों कहा जा सकता है। अतएव सगुण की व्याख्या करते समय अवश्य ही अन्त में हम लोगों को निर्गुण की धारणा करनी पड़ेगी, क्योंकि निर्गुण-धारणा सगुण भाव से उच्चतर समाधान है। अनन्त केवल निर्गुण ही हो सकता है, सगुण केवल सान्त मात्र है। इसलिये इस व्याख्या द्वारा हमने सगुणवाद की रक्षा की है, न कि उसे उड़ा दिया। बहुधा हमें यह शंका होती है कि निर्गुण ईश्वर मानने पर सगुण भाव नष्ट हो जायगा, निर्गुण जीवात्मा मानने पर सगुण जीवात्मा का भाव नष्ट हो जायगा, किन्तु वास्तव में उससे 'मैं-पन' का विनाश न होकर उसकी प्रकृत रक्षा होती है। हम उस अनन्त सत्ता के समाधान बिना, व्यक्ति के अस्तित्व को किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं कर सकते। यदि हम व्यक्ति को सम्पूर्ण जगत् से पृथक् मानकर सोचने की चेष्टा करें तो कभी भी ऐसा न कर पायेंगे, क्षण-भर के लिए भी हम ऐसा नहीं सोच सकते।

दूसरी बात यह है कि पूर्वोक्त द्वितीय तत्त्व के फलस्वरूप हम और भी कठिन और दुर्बोध्य तत्त्वविचार में पड़ जाते हैं। यदि समस्त वस्तुओं की व्याख्या उनके स्वरूप से की जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि वही निर्गुण पुरुष—साधारणीकरण की रीति द्वारा हम जिस सर्वोच्च तत्त्व पर पहुँचे हैं—हम लोगों के अन्दर ही है और वास्तव में हम वही हैं। 'हे श्वेतकेतो, तत्त्वमसि'—तुम वही हो, तुम्हीं वह निर्गुण पुरुष हो, तुम्हीं वह

ब्रह्म हो जिसे तुम समस्त जगत् में ढूँढ़ते फिरते हो, वह सदैव ही तुम स्वयं हो। किन्तु 'तुम' यहाँ 'व्यक्ति' के अर्थ में नहीं वरन् निर्गुण के अर्थ में प्रयुक्त है। हम अब जिस मनुष्य को जान रहे हैं, जिसे हम व्यक्त देख रहे हैं वह मानो सगुण हुआ है, किन्तु उसकी प्रकृत सत्ता निर्गुण है। इस सगुण को हमें निर्गुण के द्वारा समझना होगा, विशेष को साधारण के द्वारा जानना होगा। वह निर्गुण सत्ता ही प्रकृत सत्य है—वही मनुष्य का आत्मस्वरूप है—इस सगुण व्यक्त पुरुष को सत्य नहीं कहा जा सकता।

इस सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठेंगे। मैं क्रमशः उनका उत्तर देने की चेष्टा करूँगा। बहुत से कूट प्रश्न भी किये जायेंगे किन्तु उनकी मीमांसा करने के पहले, आइये, हम अद्वैतवाद क्या है, यह समझ लेने का प्रयत्न करें। अद्वैतवाद कहता है कि व्यक्त जीव-रूप में हम मानो अलग अलग होकर रहते हैं, किन्तु वास्तव में हम सब एक ही सत्य-स्वरूप हैं, और हम अपने को उससे जितना कम पृथक् समझेंगे उतना ही हमारा कल्याण होगा। इसके विपरीत हम लोग इस समष्टि से अपने को जितना अलग समझेंगे उतना ही कष्ट होगा। इसी तत्त्व से हम अद्वैतवाद-सम्मत नीतितत्त्व पाते हैं, और मेरा यह दावा है कि और किसी मत से हमें कोई भी नीतितत्त्व नहीं मिलता। हम जानते हैं कि नीति की सबसे पुरानी धारणा यह थी कि किसी पुरुषविशेष अथवा कुछ विशिष्ट पुरुषों का जो ख्याल हो वही कर्तव्य है। अब इसे मानने को कोई भी तैयार नहीं; क्योंकि वह आंशिक व्याख्या मात्र है। हिन्दू कहते हैं, अमुक कार्य करना ठीक नहीं, क्योंकि वेदों में उसका निषेध है, किन्तु ईसाई वेदों का प्रमाण नहीं मानते। ईसाई लोग कहते हैं यह मत करो, वह मत करो क्योंकि

बाइबिल में यह सब करना मना है। जो बाइबिल नहीं मानते वे इसे भी कभी नहीं मानेंगे। हम लोगों को एक ऐसा तत्त्व खोजना पड़ेगा जो इन अनेक प्रकार के भावों का समन्वय कर सके। जैसे लाखों व्यक्ति सगुण सृष्टिकर्ता में विश्वास करने को तैयार हैं वैसे ही इस दुनिया में हजारों विद्वान् ऐसे भी हैं जिन्हें ये सब धारणायें पर्याप्त नहीं जान पड़तीं। वे इससे कुछ ऊँची ार्थना करते हैं; और जब विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय इन सब मनीषयों को अपने समुदाय में लाने योग्य उदार भाव नहीं रखते, तभी यह फल होता है कि समाज के उज्ज्वलतम रत्न धर्म-सम्प्रदाय का परित्याग कर देते हैं, और आज प्रधानतः यूरोप में यह जितना स्पष्ट देखा जाता है उतना और कहीं भी नहीं पाया जाता।

इन लोगों को धर्म-सम्प्रदाय में रखने के लिये इन धर्म-सम्प्रदायों के लिये विशेष उदार भावापन्न होना अत्यन्त आवश्यक है। धर्म जो कुछ कहता है, तर्क की कसौटी पर उन सबकी परीक्षा करना आवश्यक है। सभी धर्म यही एक दावा क्यों करते हैं कि वे तर्क द्वारा परीक्षित होना नहीं चाहते, यह कोई नहीं बतला सकता। पर वास्तव में इसका कारण यह है कि उनमें शुरू से ही कुछ त्रुटियाँ हैं। युक्ति के मानदण्ड के बिना धर्म के विषय में भी किसी प्रकार का विचार या सिद्धान्त सम्भव नहीं है। शायद किसी धर्म ने कुछ बीभत्स कार्य करने की आज्ञा दी। ,... मान लीजिए मुसलमान धर्म के किसी आदेश के ऊपर एक ईसाई ने कुछ दोषारोपण किया। इस पर मुसलमान स्वभावतः पूछेंगे, "तुम कैसे जानते हो कि यह अच्छा है या बुरा? तुम्हारी भले-बुरे की धारणा तो तुम्हारे शास्त्र द्वारा है न!

हमारा शास्त्र कहता है कि यह सत्कार्य है। यदि आप कहें कि आपका शास्त्र प्राचीन है तो बौद्ध लोग कहेंगे कि उनका शास्त्र तुम्हारे से भी पुराना है और हिन्दू कहेंगे कि उनका शास्त्र सभी की अपेक्षा प्राचीनतम है। अतएव शास्त्र की दोहाई देने से काम नहीं चल सकता। तुम्हारे आदर्शों का आधार कहाँ है जिससे तुम अन्य सबकी तुलना कर सको ?" ईसाई कहेंगे, ईसाई का 'शैलोपदेश' देखिए; मुसलमान कहेंगे, 'कुरान की नीति' देखिए। मुसलमान कहेंगे, इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है इसका निर्णय कौन करेगा, कौन मध्यस्थ बनेगा ? बाइबिल और कुरान में जब विवाद है तो यह निश्चय है कि उन दोनों में से तो कोई मध्यस्थ नहीं बन सकता। कोई स्वतंत्र व्यक्ति उनका मध्यस्थ हो तो अच्छा हो। यह कार्य किसी ग्रन्थ द्वारा नहीं हो सकता, हाँ, किसी सार्वभौमिक पदार्थ का मध्यस्थ होना आवश्यक है। युक्ति से अधिक सार्वभौमिक पदार्थ और कोई है क्या ? कहा जाता है, युक्ति सदैव ही सत्यानुसन्धान नहीं कर सकती। अनेक समय उसके द्वारा भूल भी हो जाती है, अतः कुछ लोगों का सिद्धान्त है कि किसी न किसी पुरोहित-सम्प्रदाय के शासन में विश्वास करना ही पड़ेगा.... किन्तु मैं कहूँगा कि यदि युक्ति दुर्बल है तो पुरोहित-सम्प्रदाय और भी दुर्बल होंगे। मैं उन लोगो की बात सुनने की अपेक्षा युक्ति की बात सुनना अधिक पसन्द करूँगा, कारण, युक्ति में चाहे जितना दोष क्यों न हो उसमें कुछ न कुछ सत्य-लाभ की सम्भावना है, किन्तु दूसरी ओर तो किसी सत्य को पाने की सम्भावना ही नहीं है।

अतएव हम लोगों को युक्ति का अनुसरण करना चाहिए और जो युक्ति का अनुसरण कर किसी बात का विश्वास नहीं

कर पाते उनके साथ भी हम लोगों को सहानुभूति रखनी पड़ेगी। कारण, किसी के मत में मत मिलाकर बीस लाख देवताओं में विश्वास करने की अपेक्षा युक्ति का अनुसरण करके नास्तिक होना अच्छा है; हम लोग चाहते हैं उन्नति, विकास और प्रत्यक्ष अनुभव। किसी मत का अवलम्बन करके ही मनुष्य श्रेष्ठ नहीं हो जाता। करोड़ों शास्त्र भी हम लोगों को पवित्र करने में सहायता नहीं कर सकते। ऐसा होने की एकमात्र शक्ति हम लोगों के अन्दर ही है। प्रत्यक्ष अनुभव ही हम लोगों को पवित्र बनाने में सहायक होता है और यह प्रत्यक्षानुभव केवल मनन द्वारा ही हो सकता है। मनुष्य चिन्तन करे। मिट्टी का ढेला कभी चिन्तन नहीं कर सकता। मान लीजिए, उसने सभी पर विश्वास किया, पर वह सदा के लिए मिट्टी का ढेला मात्र ही रह जाता है। एक गाय को जैसी इच्छा हो विश्वास कराया जा सकता है। कुत्ता सर्वाधिक चिन्ताहीन प्राणी है। किन्तु जो कुत्ता है, जो गाय है, जो मिट्टी का ढेला है वह वैसा ही रह जाता है, कुछ भी उन्नति नहीं कर सकता। किन्तु मनुष्य का महत्त्व उसकी मननशीलता के कारण है, पशुओं से हम इसी बात में भिन्न हैं। यह मनन करना मनुष्य का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। अतएव हम लोगों को अपने मन को चिन्तनशील अवश्य बनाना पड़ेगा। इसीलिए मैं युक्ति में विश्वास करता हूँ और युक्ति का ही अनुसरण करता हूँ। केवल परोपदेश में विश्वास करने से क्या अनिष्ट होता है, यह मैं विशेष रूप से देख चुका हूँ, क्योंकि मैं जिस देश में पैदा हुआ हूँ वहाँ परोपदेश में विश्वास करने की पराकाष्ठा है।

हिन्दू लोग विश्वास करते हैं कि वेदों से सृष्टि हुई है।

उदाहरणार्थ एक गाय है यह कैसे जाना ? उत्तर है, 'गो' शब्द वेद में हैं। इसी प्रकार मनुष्य है यह कैसे जाना ? उत्तर आता है कि वेदों में 'मनुष्य' शब्द आया है। हिन्दू लोगों की यह जो विश्वास की पराकाष्ठा है और मैं इसकी जिस प्रकार आलोचना कर रहा हूँ उस प्रकार इसकी आलोचना नहीं होती। कुछ तीक्ष्णबुद्धि व्यक्तियों ने इसको लेकर कुछ अपूर्व दार्शनिक तत्त्व ढूँढ़ निकाले हैं और हजारों बुद्धिमान व्यक्तियों ने हजारों वर्ष तक इसी मत के आन्दोलन में समय बिताया है। दूसरों की बातों में युक्तिशून्य विश्वास की जितनी बड़ी शक्ति है उसमें विपत्ति भी उतनी ही है। वह मनुष्यजाति की उन्नति रोक देता है। और हम लोगों को यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि उन्नति करना ही हमारा लक्ष्य है। सम्पूर्ण आपेक्षिक सत्यानुसन्धान में भी सत्य की अपेक्षा हमारे मन की क्रियाशीलता ही अधिक आवश्यक है। मनन ही हमारा ज़ीवन है।

अद्वैतमत में यही गुण है कि अनेक धर्ममतों के बीच यही मत अधिकांश में निस्सन्देह रूप से प्रमाणित किया जा सकता है। निर्गुण ईश्वर, प्रकृति में ईश्वर की अवस्थिति और निर्गुण पुरुष की परिणामरूपा प्रकृति, ये सब सत्य प्रामाण्य हैं और अन्य सब भाव--ईश्वर की आंशिक और सगुण धारणायें-युक्तियुक्त नहीं हैं। इसका एक और गुण यह है कि यह युक्तिसंगत ईश्वर-वाद इस बात को प्रमाणित करता है कि ये आंशिक धारणायें अब भी बहुतों के लिये आवश्यक हैं। इन मतों की आवश्यकता के सम्बन्ध में भी हम यही एकमात्र युक्ति देखेंगे। अनेक लोग कहते रहते हैं कि यह सगुणवाद अयौक्तिक है, किन्तु है बड़ा शान्तिदायक। उन लोगों को धर्म तो सान्त्वना देनेवाला चाहिए, और हम

लोग भी समझ सकते हैं कि उनके लिए इसकी जरूरत है। बहुत कम लोग सत्य का निर्मल प्रकाश सहन कर सकते हैं, उसके अनुसार जीवन बिताना तो बहुत दूर की बात है। अतएव इस सान्त्वना देनेवाले धर्म की भी आवश्यकता है; समय आने पर यही बहुतों को उच्चतर धर्मलाभ में सहायता करता है। जिस क्षुद्र मन की परिधि सीमित है और छोटी छोटी नगण्य वस्तुएँ जिस मन की मनन-सामग्री हैं, वह मन कभी उच्च विचार-क्षेत्र में विचरण करने का साहस नहीं कर सकता। उन लोगों को छोटे छोटे देवताओं और प्रतिमा तथा आदर्शों की धारणा ही उत्तम और उपकारी लगती है, किन्तु तुम्हें निर्गुणवाद भी समझना होगा, और इस निर्गुणवाद के आलोक में ही इनकी उपकारिता जानी जा सकती है।

उदाहरणस्वरूप जॉन स्टुअर्ट मिल को ही लीजिए। वे ईश्वर का निर्गुणवाद समझते हैं और उसमें विश्वास भी करते हैं—वे कहते हैं, सगुण ईश्वर को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। मैं इस विषय में उनके साथ एकमत हूँ; फिर भी, मैं कहता हूँ कि मनुष्य-बुद्धि से निर्गुण की जितनी दूर तक धारणा की जा सके, वही सगुण ईश्वर है। और वास्तव में निर्गुण की इन विभिन्न धारणाओं के सिवाय जगत् में है ही क्या? वह मानो हम लोगों के सामने एक खुली पुस्तक है, और प्रत्येक व्यक्ति एकरूप-सी अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार उसका पाठ कर रहा है और प्रत्येक को स्वयं ही उसका पाठ करना पड़ता है। सभी मनुष्यों की बुद्धि बहुत कुछ एक-सी ही है; इसीलिये मनुष्य की बुद्धि में कुछ वस्तुएँ एकरूप-सी जान पड़ती हैं। हम तुम दोनों ही एक कुर्सी देख रहे हैं। इससे यह प्रमाणित हुआ कि हम दोनों का

मन बहुत कुछ एक-सा गढ़ा है। मान लो, कोई दूसरे प्रकार के इन्द्रियोंवाला प्राणी आया; वह हम लोगों की अनुभूत कुर्सी नहीं देखेगा, किन्तु जितने लोग एक-सी प्रकृति के हैं वे सब एक-सा ही रूप देखेंगे। अतएव सम्पूर्ण जगत् वही निरपेक्ष अपरिणामी पारमार्थिक सत्ता हैं, और व्यावहारिक सत्ता उसे केवल विभिन्न रूप में देखना भर है। इसका कारण, पहले तो यह है कि व्यावहारिक सत्ता सदा ससीम होती है। हम जानते हैं कि हम जो कोई भी व्यावहारिक सत्ता देखते हैं, अनुभव करते हैं अथवा उसका चिन्तन करते हैं, वह अवश्य ही हमारे ज्ञान के द्वारा सीमाबद्ध है, अतएव वह ससीम होती है, और सगुण ईश्वर के सम्बन्ध में हमारी जैसी धारणा है उससे वह ईश्वर भी व्यावहारिक मात्र है। कार्यकारण भाव केवल व्यावहारिक जगत् में ही सम्भव है और उसे जब मैं जगत् का कारण मानता हूँ तो अवश्य ही उसे ससीम जैसा मानना ही पड़ेगा। किन्तु फिर भी वे वही निर्गुण ब्रह्म हैं। हम लोगों ने पहले ही देखा है कि यह जगत् भी हमारी बुद्धि द्वारा देखा गया वही निर्गुण ब्रह्म मात्र है। यथार्थ में जगत् वही निर्गुण पुरुष मात्र है और हम लोगों की बुद्धि द्वारा उसको नाम-रूप दिए गये हैं। इस टेबिल में जितना सत्य है वह वही पुरुष है और इस टेबिल की आकृति तथा जो कुछ अन्य बातें हैं वे सब समान मानव-बुद्धि द्वारा ऊपर से जोड़ी गई हैं।

उदाहरणस्वरूप गति का विषय लीजिए। व्यावहारिक सत्ता की वह नित्य सहचरी है। किन्तु वह सार्वभौमिक, पारमार्थिक सत्ता के विषय में प्रयुक्त नहीं हो सकती। प्रत्येक क्षुद्र अणु, जगत् के अन्तर्गत प्रत्येक परमाणु, सदैव ही परिवर्तन तथा

गतिशील है, किन्तु समष्टिरूप से जगत् अपरिणामी है, क्योंकि गति या परिणाम आपेक्षिक पदार्थमात्र हैं। केवल गतिहीन पदार्थ के साथ तुलना करने पर ही हम गतिशील पदार्थ की बात सोच सकते हैं। गति समझने के लिये दोनों ही पदार्थ आवश्यक हैं। सम्पूर्ण समष्टिजगत् एक अखण्ड सत्तास्वरूप है, उसकी गति असम्भव है। किसके साथ तुलना करके उसकी गति प्रतीत होगी? उसमें परिवर्तन होता है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसकी तुलना में उसका परिणाम हो सकेगा? अतएव वह समष्टि ही निरपेक्ष सत्ता है, किन्तु उसके भीतर का प्रत्येक अणु निरन्तर गतिशील है, वह परिणामी और साथ ही साथ अपरिणामी है, सगुण है और निर्गुण भी है। जगत्, गति एवं ईश्वर के सम्बन्ध में हम लोगों की यही धारणा है, और 'तत्त्वमसि' का भी यही अर्थ है। हमें अपना स्वरूप जानना चाहिए।

सगुण मनुष्य अपना उत्पत्ति-स्थल भूल जाता है, जैसे कि समुद्र का जल समुद्र से बाहर आकर सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जाता है। इस प्रकार हम लोग सगुण होकर, व्यष्टि होकर अपना प्रकृत स्वरूप भूल गए हैं। अद्वैतवाद हमें विषम-भावापन्न जगत् को त्याग करने की शिक्षा नहीं देता, वह क्या है यही समझ लेने को कहता है। हम लोग वही अनन्त पुरुष और वही आत्मा हैं। हम लोग जलस्वरूप हैं और यह जल समुद्र से उत्पन्न है, उसकी सत्ता समुद्र के ऊपर निर्भर रहती है, और वास्तव में वह समुद्र ही है—समुद्र का अंश नहीं, सम्पूर्ण समुद्रस्वरूप है, क्योंकि जो अनन्त शक्ति-राशि ब्रह्माण्ड में वर्तमान है उसका समुदय ही हमारा तुम्हारा है। हम तुम तथा प्रत्येक अन्य व्यक्ति ही मानो कुछ माध्यम के समान हैं जिनमें से होकर वह

अनन्त सत्ता अपने को अभिव्यक्त कर रही है, और यह परिवर्तन-समष्टि जिसे हम 'क्रमविकास' कहते हैं, वास्तव में अनेक रूपों में आत्मा का शक्तिविकास मात्र है, किन्तु अनन्त के इस पार, सान्त जगत् में आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति प्रकाशित नहीं हो सकती। हम लोग यहाँ कितनी भी शक्ति, कितना ही ज्ञान अथवा कितना ही आनन्द प्राप्त क्यों न करें, इस जगत् में वे सब असम्पूर्ण ही रहेंगे। अनन्त सत्ता, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द हम लोगों में पहले से ही विद्यमान हैं। यह नहीं कि हम लोगों को उन्हें उपार्जित करना पड़ता है, वे सब बातें हम लोगों में सदैव से विद्यमान हैं, हमें तो उन्हें केवल प्रकाशित मात्र करना है।

अद्वैतवाद से यही एक महासत्य प्राप्त होता है और इसको समझना बहुत कठिन है। मैं बचपन से देखता आ रहा हूँ कि सभी दुर्बलता की शिक्षा देते आ रहे हैं, जन्म से ही मैं सुनता आ रहा हूँ कि मैं दुर्बल हूँ। अब मेरे लिए अपने भीतर निहित शक्ति का ज्ञान कठिन हो गया है, किन्तु युक्ति-विचार द्वारा मैं देख सकता हूँ कि मुझे अपनी अन्तर्निहित शक्ति का ज्ञान लाभ कर लेना पड़ेगा, बस फिर सब कुछ हो जायगा। इस संसार में जो हम सब बातें जानते हैं वह कहाँ से जान पाते हैं? वह ज्ञान हमारे भीतर ही है। क्या बाहर कोई ज्ञान है? मुझे तनिक भी तो दिखाओ। ज्ञान कभी जड़ में नहीं था, वह सदा मनुष्य के भीतर ही था। किसी ने कभी भी ज्ञान की सृष्टि नहीं की। मनुष्य उसका आविष्कार करता है, उसको भीतर से बाहर लाता है। वह वहीं वर्तमान है। यह जो एक कोस तक फैला हुआ बड़ा वटवृक्ष है वह सरसों के बीज के अष्टमांश के समान उस छोटे से बीज में ही था—वह महा-

शक्तिराशि उसमें सन्निहित थी । हम जानते हैं कि एक जीवाणु-कोष के भीतर ही अत्यद्भुत प्रखर बुद्धि अप्रकट रूप में विद्यमान है; फिर अनन्त शक्ति उसमें क्यों न रह सकेगी? हम जानते हैं यह सत्य है। पहेली-सा लगने पर भी वह सत्य है। हम सभी एक जीवाणु-कोष से उत्पन्न हुए हैं और हम लोगों में जो कुछ भी क्षुद्र शक्ति है वह उसी में कुण्डलीरूप में बैठी थी। तुम लोग यह नहीं कह सकते कि वह खाद्य में से आई है; ढेर की ढेर खाद्य-सामग्री लेकर एक पर्वत बना डालो, किन्तु देखोगे उसमें से कोई शक्ति नहीं निकलती । हम लोगों के भीतर शक्ति पहले से ही अव्यक्त भाव में निहित थी, और वह थी अवश्य; अतएव यही सिद्धान्त निश्चित हुआ कि मनुष्य की आत्मा के भीतर अनन्त शक्ति भरी पड़ी है। मनुष्य उसके सम्बन्ध में जाने भले ही नहीं, परन्तु फिर भी वह है। उसे केवल जानने की ही अपेक्षा है । धीरे धीरे मानो वह अनन्त शक्तिमान दैत्य जागरित होकर अपनी शक्ति को जान रहा है और जैसे जैसे वह जानता जाता है वैसे वैसे उसके एक के बाद एक बन्धन टूटते जाते हैं, शृंखलाएँ छिन्नभिन्न होती जाती हैं और ऐसा एक दिन अवश्य ही आएगा जब उसे इस अनन्त ज्ञान का पुनर्लाभ होगा और वह ज्ञानवान एवं शक्तिमान होकर उठ खड़ा होगा । आओ, हम सब लोग इसी अवस्था के लाने में सहायता करें ।

व्यावहारिक जीवन में वेदान्त

चतुर्थ व्याख्यान

(१८ नवम्बर, सन् १८९६ ई. को लन्दन में दिया हुआ भाषण।)

हम अभी तक समष्टि की आलोचना करते आये हैं। आज इस प्रातःकाल मैं तुमसे व्यष्टि के साथ समष्टि का सम्बन्ध —इस विषय में वेदान्त का मत बतलाने का प्रयत्न करूँगा। हम प्राचीनतर द्वैतवादात्मक वैदिक मतों में देखते हैं कि प्रत्येक जीव की एक निर्दिष्ट सीमाविशिष्ट आत्मा है। प्रत्येक जीव में अवस्थित इस विशेष आत्मा के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मत-वाद प्रचलित हैं। किन्तु प्राचीन बौद्ध और प्राचीन वेदान्तियों के बीच में प्रधान विचारार्थ विषय यही था कि प्राचीन वेदान्ती स्वयंपूर्ण जीवात्मा मानते थे, और बौद्ध लोग इस प्रकार के जीवात्मा के अस्तित्व को नितान्त अस्वीकृत करते थे। जैसा कि मैंने कल कहा था, यूरोप में भी ठीक ऐसा ही द्रव्य-गुण-विचार चल रहा है। एक दल यह मानता है कि गुणों के पीछे द्रव्य-रूप कोई वस्तु है जिसमें गुण आधारित हैं और दूसरे दल के मत में द्रव्य को मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं, गुण स्वयं ही रह सकते हैं। अवश्य ही आत्मा के सम्बन्ध में सर्वप्राचीन मत 'अहं-सारूप्य'-गत युक्ति के ऊपर स्थापित है। 'अहं-सारूप्य' युक्ति का अर्थ है: कल का 'मैं' ही आज का 'मैं'

है और आज का 'म' आगामी कल का 'मैं' रहेगा। शरीर में जो कुछ भी परिवर्तन हो रहा है, उसके होने पर भी मैं विश्वास करता हूँ कि मैं सदा एकरूप ही हूँ। जान पड़ता है, जो सीमित, पर स्वयंपूर्ण जीवात्मा मानते थे उनकी प्रधान युक्ति यही थी।

दूसरी ओर प्राचीन बौद्धगण ऐसा जीवात्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं समझते थे। उनकी यह युक्ति थी कि हम केवल इन परिणामों को ही जानते हैं एवं इन परिणामों के अतिरिक्त और कुछ भी जानना हम लोगों के लिये असम्भव है। एक अपरिणम्य और अपरिणामी द्रव्य को स्वीकार करना अनावश्यक है और वास्तव में यदि इस प्रकार की कोई अपरिणामी वस्तु हो भी, तो हम उसे कभी समझ नहीं सकेंगे और न उसे किसी भी तरह प्रत्यक्ष ही कर सकेंगे। आजकल यूरोप में भी धर्म और विज्ञानवादी (Idealist), आधुनिक प्रत्यक्षवादी (Realist) तथा अज्ञेयवादी (Agnostic) विचारकों में यही विचारधारा प्रचलित है। एक दल का विश्वास है कि कुछ अपरिवर्तनशील पदार्थ है। इनके अन्तिम प्रतिनिधि हर्बर्ट स्पेन्सर कहते हैं कि हमें मानो किसी अपरिणामी पदार्थ का आभास होता है। दूसरे दल के प्रतिनिधि हैं कोमते (Comte) के आधुनिक शिष्यगण तथा आधुनिक अज्ञेयवादीगण। तुम लोगों में से जिन व्यक्तियों ने कुछ साल पहले मि. हॅरिमन और मि. हर्बर्ट स्पेन्सर के बीच का वाद-विवाद ध्यानपूर्वक पढ़ा होगा वे लोग जानते होंगे कि इस वादविवाद में यही गड़बड़ी मौजूद है; कुछ व्यक्ति परिणामी वस्तु के पीछे किसी अपरिणामी सत्ता का अस्तित्व मानते हैं और कुछ उसके मानने की आवश्यकता ही नहीं समझते। कुछ लोग कहते हैं कि हम अपरिणामी सत्ता की धारणा के

बिना परिणाम सोच ही नहीं सकते, तथा दूसरे यह युक्ति पेश करते हैं कि ऐसा मानने की कोई जरूरत नहीं, हम केवल परिणामशील पदार्थ की ही धारणा कर सकते हैं। अपरिणामी सत्ता को न हम समझ सकते हैं, और न अनुभव या प्रत्यक्ष ही कर सकते हैं।

भारत में भी इस महान् समस्या की मीमांसा अत्यन्त प्राचीन काल में भी नहीं मिली, क्योंकि हमने देखा है कि गुणों के पीछे अवस्थित तथापि गुणभिन्न पदार्थ की सत्ता कभी प्रमाणित ही नहीं हो सकती। केवल यही नहीं, आत्मा के अस्तित्व का 'अहं-सारूप्य'-गत प्रमाण, स्मृति से आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी युक्ति——कल जो 'मैं' था, आज भी 'मैं' वही हूँ, क्योंकि मुझे यह स्मरण है, अतएव मैं बराबर हूँ,——इस युक्ति का भी कोई महत्त्व नहीं। और भी एक युक्ति का आभास, जो साधारणतः दर्शाया जाता है, वह भी केवल शब्दों का ज़ोड़-तोड़ है। "मैं जाता हूँ", "मैं खाता हूँ" "मैं स्वप्न देखता हूँ", "मैं सो रहा हूँ" "मैं चलता हूँ" आदि कितने ही वाक्य लेकर वे कहते हैं कि करना, खाना, जाना, स्वप्न देखना, ये सब विभिन्न परिवर्तन भले ही हों किन्तु उनके बीच में 'मैं-पन' नित्य भाव से वर्तमान है और इस प्रकार वे इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि यह 'मैं' नित्य और स्वयं एक व्यक्ति है तथा ये सब परिवर्तन शरीर के धर्म हैं। यह युक्ति सुनने में खूब उपादेय तथा स्पष्ट जान पड़ती है किन्तु वास्तव में वह केवल शब्दों के जोड़-तोड़ पर ही अवस्थित है। यह 'मैं' और करना, जाना, स्वप्न देखना आदि मुख में भले ही अलग हो जायँ किन्तु मन में कोई भी उन्हें अलग नहीं कर सकता।

जब मैं आहार करता हूँ, खा रहा हूँ कहकर सोचता हूँ तब आहार कार्य के साथ मेरा तादात्म्यभाव हो जाता है। जब मैं दौड़ता रहता हूँ तब मैं और दौड़ना, ये दो अलग अलग बातें नहीं होतीं। अतएव यह युक्ति कुछ अधिक सबल नहीं जान पड़ती। यदि मेरे अस्तित्व का सारूप्य मुझे अपनी स्मृति-द्वारा प्रमाणित करना पड़े तो अपनी जो सब अवस्थायें मैं भूल गया हूँ उनमें मैं था ही नही यही मानना पड़ेगा। और हम यह भी जानते हैं कि कुछ विशेष विशेष अवस्थाओं में अनेक लोग पिछला, सब कुछ पूर्ण रूप से भूल जाते हैं। अनेक पागल व्यक्ति अपने को काँचनिर्मित अथवा कोई पशु मानते देखे जाते हैं। यदि केवल स्मृति पर ही उस व्यक्ति का अस्तित्व निर्भर होता हो तो वे काँच या पशु हो गये हैं यही मानना पड़ेगा। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता, अतः यह अहं-सारूप्य, स्मृति विषयक नगण्य युक्ति पर आधारित नहीं हो सकता। तब क्या निष्कर्ष निकला? यही कि सीमाबद्ध तथापि सम्पूर्ण और नित्य 'अहं' का सारूप्य गुणसमूह से पृथक् रूप में स्थापित नहीं हो सकता। हम ऐसा कोई संकीर्ण सीमाबद्ध अस्तित्व नहीं मान सकते जिसके पीछे गुण लगे हों।

दूसरे पक्ष में प्राचीन बौद्धों का यह मत कि गुणसमूह के पीछे अवस्थित किसी वस्तु के विषय में हम न कुछ जानते हैं और न जान सकते हैं, अधिक दृढ भित्ति पर स्थापित जान पड़ता है। उनके मतानुसार अनुभूति और भावरूप कुछ गुणों की समष्टि ही आत्मा है। यह गुणराशि ही आत्मा है और वह क्रमशः परिवर्तनशील है। अद्वैत द्वारा इन दोनों मतों में सामञ्जस्य होता है।

अद्वैतवाद का सिद्धान्त यह है कि हम वस्तु को गुण से अलग नहीं मान सकते, यह सत्य है। हम परिणाम और अपरिणाम दोनों को एक साथ नहीं सोच सकते। इस प्रकार सोचना भी असम्भव है। किन्तु जिसे वस्तु कहा जाता है वही गुण-स्वरूप है। द्रव्य और गुण पृथक् नहीं हैं। अपरिणामी वस्तु ही परिणाम-रूप में प्रतीत होती है : यह अपरिणामी सत्ता परिणामी जगत् से पूर्ण-रूपेण स्वतंत्र नहीं है : पारमार्थिक सत्ता व्यावहारिक सत्ता से पूर्णतया पृथक् वस्तु नहीं है, किन्तु यह पारमार्थिक सत्ता ही व्यावहारिक सत्ता बन जाती है। अपरिणामी आत्मा है, और हम जिसे अनुभूति, भाव आदि कहते हैं, केवल ये ही नहीं अपितु यह शरीर भी वही आत्मस्वरूप है, और वास्तव में हम लोग एक ही समय में दो वस्तुओं का अनुभव नहीं करते, केवल एक ही का करते हैं। हम लोगों का शरीर है, मन है, आत्मा है, इस प्रकार सोचने का हमें अभ्यास हो गया है, किन्तु वास्तव में केवल एक ही सत्ता है।

जब मैं अपने को 'शरीर' सोचता हूँ तब मैं केवल शरीर हूँ; मैं इसके अतिरिक्त और कुछ हूँ यह कहना बेकार की बात है। जब मैं अपने को आत्मा मानता हूँ, तब देह तो कहीं उड़ जाती है, देहानुभूति ही नहीं रहती। देहज्ञान दूर न होने पर कभी आत्मानुभूति होती ही नहीं। गुण की अनुभूति न हटने पर वस्तु का अनुभव कभी किसी को भी नहीं हो सकता।

इसको खूब अच्छी तरह समझने के लिये अद्वैतवादियों का रज्जुसर्प का उदाहरण लिया जा सकता है। जब मनुष्य रस्सी को साँप समझकर भूल करता है तब उसके लिये रस्सी नहीं रहती और जब वह उसे वास्तविक रस्सी समझता है तब उसका

सर्पज्ञान नष्ट हो जाता है और केवल रस्सी ही बच रहती है। प्रमाणों के असम्पूर्ण आधारों को अपनाने के कारण हमें द्वित्व या त्रित्व की अनुभूति होती है। ये सब बातें हम पुस्तकों में पढ़ते अथवा सुनते आये हैं। इसी कारण हम इस भ्रम में पड़ गये हैं कि मानो सचमुच ही हमें आत्मा और देह दोनों का ही अनुभव हो रहा है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं। एक समय में या तो केवल देह का ही अनुभव होता है या आत्मा का ही। इसको प्रमाणित करने के लिए किसी युक्ति की जरूरत नहीं। अपने मन ही मन हम इसकी परीक्षा कर सकते हैं।

तुम अपने को देहशून्य आत्मा मानकर सोचने का प्रयत्न कर देखो तो प्रतीत होगा कि यह असम्भव-सा है, और जो इने-गिने लोग इसमें सफल होते हैं वे देखेंगे कि जब वे अपने को आत्मस्वरूप अनुभव करते हैं तब उन्हें देहज्ञान नहीं रहता। तुमने शायद देखा हो और सुना भी हो कि अनेक व्यक्ति वशीकरण (Hypnotism) के प्रभाव से अथवा स्नायुरोग से अथवा अन्य किसी कारण से समय समय पर विशेष अवस्था में आ जाते हैं। उन लोगों की अभिज्ञता से तुम लोग जान सकते हो कि जब वे भीतर ही भीतर कुछ अनुभव कर रहे थे तब उनका बाह्यज्ञान एकदम लुप्त हो गया था, बिलकुल नहीं रह गया था। इसी से जान पडता है कि अस्तित्व एक ही है, दो नहीं। वह एक ही अनेक रूपों में जान पड़ता है और उनमें कार्यकारण सम्बन्ध भी है। कार्य-कारण सम्बन्ध का अर्थ है परिणाम, एक का दूसरे में बदल जाना। समय समय पर मानो कारण अन्तर्हित हो जाता है, केवल उसके बदले कार्य रह जाता है। यदि आत्मा देह का कारण है तो मानो कुछ देर के लियें वह अन्त-

हित हो जाती है और उसके बदले देह रह जाती है, और जब शरीर अन्तर्हित हो जाता है तो आत्मा अवशिष्ट रहती है। इस मत से बौद्धों का मत खण्डित हो जाता है। बौद्धगण आत्मा और शरीर––इन दोनों को पृथक् मानने के अनुमान के विरुद्ध तर्क करते थे। अब अद्वैतवाद के द्वारा इस द्वैतभाव को मिटाने और द्रव्य तथा गुण एक ही वस्तु के विभिन्न रूप हैं यह प्रदर्शित करने से उनका मत भी खण्डित हो गया।

हम लोगों ने यह भी देखा कि अपरिणामित्व केवल समष्टि के सम्बन्ध में ही सत्य हो सकता है, व्यष्टि के सम्बन्ध में नहीं। परिणाम और गति, इन भावों के साथ व्यष्टि की धारणा जड़ित है। ज़ो कुछ ससीम है वही परिणामी है, क्योंकि दूसरे किसी ससीम पदार्थ की असीम के साथ तुलना करने पर उसका परिणाम सोचा जा सकता है, किन्तु समष्टि अपरिणामी है, क्योंकि उसके अतिरक्त और कुछ है ही नहीं जिसके साथ तुलना करके उसका परिणाम या गति सोची जा सके। परिणाम केवल दूसरे किसी अल्पपरिणामी अथवा पूर्ण रूप से अपरिणामी पदार्थ के साथ तुलना करने पर ही जाना जा सकता है। अतएव अद्वैतवाद के अनुसार, सर्वव्यापी अपरिणामी अमर आत्मा के अस्तित्व का विषय भी यथासम्भव प्रमाणित किया जा सकता है। व्यष्टि के सिद्ध करने के बारे में ही अड़चन है तो फिर हमारे सब प्राचीन द्वैतवादियों के सिद्धान्त की क्या दशा होगी, जो हमारे ऊपर इस समय भी प्रबल प्रभाव डाल रहे हैं? और फिर ससीम, क्षुद्र, व्यक्तिगत आत्मा के बारे में भी क्या होगा?

हमने देखा कि समष्टि-भाव से हम लोग अमर हैं, किन्तु समस्या यही है कि हम क्षुद्र व्यक्ति के रूप में भी अमर होने

के इच्छुक हैं, इसका क्या अर्थ है ? हमने देखा कि हम अनन्त हैं, और वही हमारा यथार्थ व्यक्तित्व है। किन्तु हम इस क्षुद्र आत्मा को व्यक्ति-रूप में मानकर उसे अमर बनाना चाहते हैं। उस क्षुद्र व्यक्तित्व का क्या होगा ? हम देख रहे हैं कि उनका व्यक्तित्व है, किन्तु वह व्यक्तित्व है विकासशील। वे एक हैं फिर भी अलग। कल का 'मैं' आज का 'मैं' है भी, और साथ ही नहीं भी है। इसमें द्वैतभावात्मक धारणा अर्थात् परिणाम के भीतर एकत्व-सूत्र विद्यमान है,--इस मत का परित्याग हुआ और नितान्त आधुनिक भाव अर्थात् क्रमविकास-वाद का ग्रहण हुआ। सिद्धान्त यह हुआ कि उसका परिणाम हो रहा है, किन्तु इस परिणाम के भीतर एक सारूप्य है, वह नित्य विकासशील है।

यदि यह सत्य है कि मनुष्य मांसल जन्तुविशेष (Mollusc) का परिणाम मात्र है, तो वह जन्तु और मनुष्य एक ही पदार्थ हुए, भेद केवल यही हुआ कि मनुष्य उस जन्तुविशेष का बहु-परिणामात्मक विकास मात्र है। वही क्रमशः विकसित होते होते अनन्त की ओर जा रहा है और अब उसने मनुष्य का रूप धारण किया है। इसलिये सीमाबद्ध जीवात्मा को भी व्यक्ति कहा जा सकता है; वही क्रमशः पूर्ण व्यक्तित्व की ओर अग्रसर हो रहा है। पूर्ण व्यक्तित्व तभी मिलेगा जब वह अनन्त में पहुँचेगा, किन्तु इस अवस्था में पहुँचने से पहले ही उसके व्यक्तित्व का लगातार परिणाम हो रहा है और साथ ही साथ विकास भी। अद्वैत वेदान्त का प्रधान वैशिष्टच है--पूर्ववर्ती मतों में सामञ्जस्य स्थापित करना। अनेक समय इससे उसका बहुत लाभ भी हुआ पर कभी कभी इससे उसके गम्भीर तत्त्वों

की बहुत क्षति भी हुई। आजकल जो क्रमविकासवादियों का मत है, उनका भी यही मत था, अर्थात् वे जानते थे कि समस्त ही क्रम-विकास का फल है, और इस मत की सहायता से वे लोग सहज ही पूर्ववर्ती प्रणालियों के साथ इस मत का सामञ्जस्य करने में सफल भी हुए। अतएव पूर्ववर्ती कोई भी मत 'परित्यक्त' नहीं हुआ। बौद्धमत की यह एक विशेष त्रुटि थी कि उसके अनुयायी क्रम-विकासवाद को नहीं समझते थे, अतएव उन्होंने आदर्श में पहुँचने की पूर्ववर्ती सीढ़ियों के साथ अपने मत का सामञ्जस्य करने का कोई प्रयत्न नहीं किया, वरन् उन्हें निरर्थक और अनिष्ट कहकर उनका परित्याग कर दिया।

धर्म में ऐसी गति अत्यन्त अनिष्टकारक है। किसी व्यक्ति को एक नूतन और श्रेष्ठतर भाव मिला तो वह अपने पुराने भावों के प्रति यह निर्णय कर लेता है कि ये सब अनावश्यक तथा हानिकारक हैं। वह यह कभी नहीं सोचता कि उसकी आज की दृष्टि में वे कितने ही निरर्थक क्यों न हों, एक समय वह भी तो था जब वे ही उसके लिये अत्यावश्यक थे और उसके वर्तमान अवस्था तक पहुँचने में उनकी विशेष उपयोगिता भी थी। हम लोगों में से प्रत्येक को ही उसी प्रकार से आत्म-विकास करना पड़ेगा, वे ही सब भाव लेने होंगे और उनमें से अच्छे भाव लेकर धीरे धीरे उच्च से उच्चतर अवस्था की ओर अग्रसर होना पड़ेगा: इसलिये अद्वैतवाद प्राचीन सभी मतों से—द्वैतवाद से, तथा और जो जो मत उससे पहले के हैं, उनसे भिन्न भाव रखता है, किन्तु यह नहीं कि वह उच्च मंच पर चढ़कर उनकी ओर दया की दृष्टि से देखता है। अद्वैतवाद का सिद्धान्त है कि वे भी सत्य हैं, एक ही सत्य के विभिन्न विकास हैं और अद्वैतवाद जिन सिद्धान्तों पर पहुँचा है,

वे भी उन्हीं सिद्धान्तों पर पहुँचेंगे।

अतएव मनुष्य को जिन सब सीढ़ियों पर चढ़कर ऊपर जाना हो उनके प्रति कठोर वचन न कहना चाहिये, वरन् उनको आशीर्वाद देते हुए उसे उनकी रक्षा करनी चाहिये। इसीलिये वेदान्त में इन सब भावों की उचित रक्षा की गई है, परित्याग नहीं किया गया। और इसीलिये द्वैतवाद-संगत पूर्णजीवात्मवाद ने भी वेदान्त में स्थान पाया है।

इस मत के अनुसार मृत्यु होने के पश्चात् मनुष्य अन्यान्य लोकों में जाता है और ये सब भाव भी अद्वैतवाद में सम्पूर्ण रूप से रक्षित हैं क्योंकि अद्वैतवाद स्वीकार करने पर ये सब विभिन्न भाव भी अपना अपना उचित स्थान पा जाते हैं। हाँ, इतना ही मानना पड़ेगा कि वे प्रकृत सत्य के आंशिक वर्णन मात्र हैं।

यदि तुम जगत् को खण्ड दृष्टि से देखो तो जगत् तुम्हें वैसा ही जान पड़ेगा। द्वैतवाद की दृष्टि से यह जगत् केवल भूत अथवा शक्ति के सृष्टिरूप में ही देखा जा सकता है। उसे किसी विशेष इच्छाशक्ति की क्रीड़ा के रूप में ही सोचा जा सकता है और उस इच्छाशक्ति को भी जगत् से पृथक् रूप में सोचना सम्भव है। इस दृष्टि से मनुष्य अपने को आत्मा और देह दोनों की समष्टि के रूप में सोच सकता है और यह आत्मा ससीम होने पर भी पूर्ण है। इस प्रकार के व्यक्ति की अमरत्व एवं अन्यान्य विषयों की धारणायें उसकी आत्मा सम्बन्धी धारणाओं के अनुसार ही होती हैं। इसलिये इन मतों की वेदान्त में रक्षा की गई है और इसीलिये द्वैतवादियों के विशेष प्रचलित साधारण मतों को तुम्हें बताना भी आवश्यक है।

इस मत के अनुसार पहले तो हमारा स्थूल शरीर है। इस

स्थूल शरीर के पीछे सूक्ष्म शरीर है। यह सूक्ष्म शरीर भी भौतिक है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म भूतों से बना है। वह हमारे सम्पूर्ण कर्मों का आश्रय-स्वरूप है। सम्पूर्ण कर्मों के संस्कार इस सूक्ष्म शरीर में स्थित रहते हैं और उनकी प्रवृत्ति सदा फल प्रदान करने की ओर होती है। हम लोग जो कुछ सोचते हैं, जो कुछ कार्य करते हैं वही कुछ समय बाद सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है, मानो बीजरूप बन जाता है, और वही इस शरीर में अव्यक्त रूप से रहता है, और फिर कुछ समय बाद प्रकाशित होकर फल भी देता है। मनुष्य का सारा जीवन इसी प्रकार है। वह अपना अदृष्ट स्वयं ही बनाता है। मनुष्य और किसी भी नियम से बद्ध नहीं है। वह अपने ही नियम में, अपने ही जाल में अपने आप बँधा है। हम जितने सब काम करते हैं, जो कुछ सोचते हैं, वे सब हमारे बन्धन-जाल के सूत हैं। एक बार किसी शक्ति को चला देने पर उसका पूर्ण फल हमें भोगना ही पड़ता है। यही कर्मविधान है। इस सूक्ष्म शरीर के पीछे ससीम जीवात्मा है। इस जीवात्मा की कोई आकृति है अथवा नहीं' यह अणु है, बृहत् है अथवा मध्यम आकार का है, इस बात पर अनेक तर्क-वितर्क हुए हैं। किसी सम्प्रदाय के मत में वह अणु है तो किसी के मत में मध्यम, और दूसरों के मत में यह जीव उस अनन्त सत्ता का एक अंश मात्र है, और वह अनन्त काल से चला आ रहा है। वह अनादि है और उसी सर्वव्यापी सत्ता के एक अंश के रूप में अवस्थित है। वह अनन्त है और अपना प्रकृतस्वरूप, शुद्ध भाव प्रकाशित करने के लिये अनेक प्रकार की देहों में से होकर आगे बढ़ रहा है। जो कर्म इस प्रकाश की अभिव्यक्ति में बाधा उपस्थित करता है,

उसे असत् कर्म कहते हैं; ऐसा ही चिन्तन के सम्बन्ध में भी है, और जिस कार्य अथवा विचार द्वारा उसके स्वरूप-प्रकाश में विशेष सहायता मिलती है, उसे सत्कार्य अथवा सद्विचार कहते हैं। किन्तु भारत के निम्नतम द्वैतवादी और अत्यन्त उन्नत अद्वैतवादी सभी का यह साधारण मत है कि आत्मा की समुदय शक्ति और क्षमता उसके भीतर ही है--वह और कहीं से नहीं आती। वह आत्मा में ही अव्यक्त रूप से रहती है, और समस्त जीवन का कार्य केवल उसके उस अव्यक्त शक्ति-समूह का ही विकास है।

वे पुनर्जन्मवाद भी मानते हैं। इस देह के नष्ट होने पर जीव फिर एक देह धारण करेगा और उस देह का नाश होने पर फिर एक दूसरी देह, और इसी प्रकार आगे भी क्रम चलता रहेगा। जीवात्मा इसी पृथ्वी पर जन्म ले अथवा अन्य किसी लोक में जाय, किन्तु इसी पृथ्वी को श्रेष्ठतर बताया गया है। उनका मत यही है कि हमारे सम्पूर्ण प्रयोजन की सिद्धि के लिये यह पृथ्वी ही सर्वश्रेष्ठ है। अन्यान्य लोकों में दुःख-कष्ट यद्यपि बहुत कम अवश्य हैं, किन्तु इसी कारण वहाँ उच्चतम विचार करने के लिये अवसर ही नहीं मिलता। इस जगत् में बहुत अच्छा सामञ्जस्य है। घोर दुःख भी है और कुछ सुख भी। अतएव जीव की मोह-निद्रा यहाँ कभी न कभी टूटती ही है, कभी न कभी उसकी इच्छा मुक्ति पाने की होती ही है। किन्तु जैसे इस लोक में बहुत बड़े आदमी उच्चतम विचार करने का अवसर बहुत कम पाते हैं, ठीक उसी प्रकार जीव यदि स्वर्ग में गमन करता है तो उसकी भी आत्मोन्नति की कोई सम्भावना नहीं रहती। यहाँ की अपेक्षा वहाँ सुख में बहुत ही वृद्धि हो

जायेगी, उनकी सूक्ष्म देह में कोई व्याधि नहीं रह जायेगी, भूख-प्यास भी नहीं लगेगी और सब कामनायें भी पूर्ण होती जायेंगी। जीव वहाँ सुख पर सुख भोगता है, परन्तु इसीलिए वह अपना स्वरूप और उच्च भाव बिलकुल भूल जाता है। फिर भी इन सब उच्चतर लोकों में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो इन सब भोगों के रहते हुए भी और भी उच्चतर भावों में चले जाते हैं। एक प्रकार के स्थूलदर्शी द्वैतवादी उच्चतम स्वर्ग को ही चरम लक्ष्य मानते हैं––उनके मतानुसार जीवात्माएँ वहाँ जाकर चिरकाल तक भगवान् के साथ रहती हैं। वे वहाँ दिव्य देह प्राप्त करती हैं––उन्हें रोग, शोक, मृत्यु अथवा अन्य कोई अशुभ नहीं सताता। उनकी सब वासनायें पूर्ण हो जाती हैं और वे भी वहाँ चिरकाल तक भगवान् के साथ रहती हैं। समय समय पर उनमें से कोई कोई पृथ्वी पर आकर, देह धारण कर लोकशिक्षा देती हैं, और जगत् के सभी श्रेष्ठ धर्माचार्यगण इसी स्वर्ग से आते हैं। वे पहले ही मुक्त हो चुके हैं। वे भगवान् के साथ एक ही लोक में वास करते हैं, किन्तु दुःखार्त मनुष्यों के ऊपर उनकी इतनी कृपा होती है कि वे यहाँ आकर पुनः देह धारण कर लोगों को स्वर्ग-पथ के सम्बन्ध में उपदेश देते हैं। उसके उपरान्त वे और भी उच्चतर लोकों में जाते हैं।

अद्वैतवादी यह अवश्य कहता है कि यह स्वर्ग हमारा चरम लक्ष्य कभी नहीं हो सकता। हमारा लक्ष्य होना चाहिए सम्पूर्ण विदेह मुक्ति। ज़ो हमारा सर्वोच्च लक्ष्य है, सर्वश्रेष्ठ आदर्श है वह कभी ससीम नहीं हो सकता। अनन्त के अतिरिक्त और कुछ भी हमारा चरम लक्ष्य नहीं हो सकता, किन्तु देह तो कभी अनन्त नहीं होती। यह होना असम्भव है, क्योंकि ससीमता से शरीर

की उत्पत्ति है। चिन्ता अनन्त नहीं हो सकती, क्योंकि ससीम भावों से ही चिन्ता होती है। अद्वैतवादी कहता है, हमें देह और चिन्ता के परे जाना होगा। और हमने अद्वैतवादियों का यह विशेष मत भी देखा है कि मुक्ति कोई प्राप्त करने की वस्तु नहीं है, वह तो सदा वर्तमान ही है। केवल हम लोग भूल जाते हैं और उसे अस्वीकार करते हैं। यह पूर्णता हमें प्राप्त करना नहीं है, वह तो सदैव ही वर्तमान है। यह अमरत्व, यह नित्यता हमें लाभ करना नहीं है, वह तो पहले से ही हमें प्राप्त है।

यदि तुम साहस के साथ यह कह सको कि 'मैं मुक्त हूँ', तो उसी मुहूर्त तुम मुक्त हो जाओगे। यदि तुम कहो 'मैं बद्ध हूँ' तो तुम बद्ध ही रहोगे। जो हो, द्वैतवादी और अन्यान्यवादियों के विभिन्न मत मैंने तुमको बता दिए हैं, अब इनमें से तुम लोग जो चाहो ग्रहण करो।

वेदान्त की यह बात समझना बहुत कठिन है और लोग सदा इस पर विवाद करते रहते हैं। सबसे बड़ी मुश्किल तो यही है कि ज़ो किसी एक मत को ले लेता है वह दूसरे मत को बिलकुल अस्वीकार कर उस मतावलम्बी के साथ वाद-विवाद करने में प्रवृत्त हो जाता है। तुम्हारे लियें जो उपयुक्त हो उसे तुम ग्रहण करो, और दूसरे को जो उपयुक्त लगे उसे वह ग्रहण करने दो। यदि तुम अपने इस क्षुद्र व्यक्तित्व को, इस ससीम मानवत्व को रखने के लिये इतने इच्छुक हो, तो उसे अनायास ही रख सकते हो, तुम्हारी सभी वासनायें रह सकती हैं और तुम उनमें सन्तुष्ट भी रह सकते हो। यदि मनुष्यभाव में रहने का आनन्द तुम्हें इतना सुन्दर और मधुर लगता है तो तुम जितने दिन इच्छा हो उसको रख सकते हो, क्योंकि तुम जानते हो कि तुम्हीं अपने

अदृष्ट के निर्माता हो । जबरदस्ती तुमसे कोई कुछ भी नहीं करा सकता । तुम्हारी जब तक इच्छा हो, मनुष्य बने रहो, कोई भी तुम्हें बाध्य नहीं कर सकता । यदि देवता होने की इच्छा करो तो देवता हो जाओगे । असल बात यह है । किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जो देवता भी नहीं बनना चाहते । उनसे यह कहने का तुम्हारा क्या अधिकार है कि यह बड़ी भयंकर बात है ? तुम्हें सौ रुपये खो जाने से दुःख हो सकता है, किन्तु ऐसे भी अनेक लोग हैं जिनके करोड़ो रुपये नष्ट होने पर तनिक भी कष्ट नहीं होगा । ऐसे लोग प्राचीन काल में बहुत थे और आज भी हैं । तुम उन्हें अपने आदर्श के पैमाने से क्यों नापते हो ? तुम क्षुद्र सीमित भावों में आबद्ध हो । ये ही तुम्हारे सर्वोच्च आदर्श लेकर रहो न । जैसा चाहोगे वैसा ही पाओगे, किन्तु तुम्हें छोड़-कर ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जिन्हें सत्य का दर्शन हुआ है--वे उन स्वर्गादि भोगों से परे हैं, वे उनमें फँसना नहीं चाहते, वे सम्पूर्ण सीमाओं के बाहर जाना चाहते हैं, जगत् की कोई भी वस्तु उन्हें परितृप्त नहीं कर सकती । जगत् और उसका सम्पूर्ण भोग उन्हें गोखुर से अधिक नहीं जान पड़ता । तुम उन्हें अपने भाव में क्यों फँसाकर रखना चाहते हो ? यह भाव बिल्कुल छोड़ना पड़ेगा, प्रत्येक को अपने रास्ते चलने दो ।

बहुत दिन पहलें मैंने सचित्र लन्दन-समाचार (Illustrated London News) नामक पत्र में एक समाचार पढ़ा । कुछ जहाज* प्रशान्त महासागर के एक द्वीपपुञ्ज के निकट तूफान में आ गये । इस पत्रिका में इस घटना का एक चित्र भी आया था । तूफान

* प्रशान्त महासागर के सामोआ द्वीपपुञ्ज के पास ब्रिटिश जहाज़ 'कैलिओपी' और अमेरिका के कुछ युद्ध जहाज़ ।

में केवल एक ब्रिटिश जहाज़ को छोड़कर अन्य सब भग्न होकर डूब गये। वह ब्रिटिश जहाज़ तूफान पार कर चला आया। चित्रों में यह दिखाया है कि जहाज़ डूबे जा रहे हैं, उनके डूबते हुए यात्री डेक के ऊपर खड़े होकर तूफान से बचनेवाले जहाज के यात्रियों को प्रोत्साहित कर रहे हैं। इसी प्रकार हमें वीर, उदार होना चाहिए। दूसरों को खींचकर अपनी भूमि पर मत लाओ। लोग मूर्ख के समान एक और मत की पुष्टि किया करते हैं कि यदि हम अपने इस क्षुद्र 'मैं-पन' को भुला दें तो जगत् में किसी प्रकार की नीति-परायणता नहीं रहेगी, मनुष्यजाति को कुछ भी आशा-भरोसा न रह जायगा। मानो जो ऐसा कहते हैं वे समग्र मानवजाति के लिये सदा प्राणोत्सर्ग ही करने के लिये तैयार हैं! यदि सभी देशों में मिलाकर केवल दो सौ ही नरनारी देश के सच्चे हितैषी हों तो दो दिन में सत्ययुग आ सकता है। हम जानते हैं कि हम मनुष्य जाति के उपकार के लिये किस प्रकार आत्मोत्सर्ग करना चाहते हैं! ये सब लम्बी-चौड़ी बातें हैं--इन सब बातों में कुछ न कुछ स्वार्थ छिपा रहता है। विश्व के इतिहास में यह स्पष्ट है कि जो इस क्षुद्र 'मैं' को एकदम भूल जाते हैं वे पुरुष ही समाज के सर्वोत्तम हितैषी हैं, और लोग अपने को जितना अधिक भूल जायेंगे उतने ही वे अधिक परोपकारी बन सकेंगे। उनमें से पहलेवालों में स्वार्थपरता है और दूसरों में निःस्वार्थ-परता। इन छोटे-छोटे भोग-सुखों में आसक्त रहना और यह सोचना कि ये ही चिरस्थायी हैं, घोर स्वार्थपरता है। ऐसी मनो-वृत्ति सत्यानुराग अथवा दूसरों के प्रति दयालु भाव के कारण नहीं होती--इसकी उत्पत्ति का एक मात्र कारण है घोर स्वार्थ-परता। दूसरे किसी की ओर दृष्टि न रखकर केवल अपनी ही

भोगवृत्ति के भाव से इसका जन्म होता है। कम से कम मुझे तो यही जान पड़ता है। संसार में मैं प्राचीन महापुरुष और साधुओं के समान चरित्रबलशाली व्यक्ति और देखना चाहता हूँ--वे एक क्षुद्र पशु तक के उपकारार्थ सौ सौ जीवन त्यागने के लिये तैयार थे। नीति और परोपकार की क्या बात करते हो ? यह तो आजकल की बेकार की बातें हैं।

मैं गौतमबुद्ध के समान चरित्रबलशाली लोग देखना चाहता हूँ, जो सगुण ईश्वर अथवा व्यक्तिगत आत्मा में विश्वास नहीं करते थे, जो उस विषय में कभी प्रश्न ही नहीं करते थे, जो उस विषय में पूर्ण अज्ञेयवादी थे, किन्तु जो सबके लिये अपने प्राण तक देने को प्रस्तुत थे--आजन्म दूसरों का उपकार करने में रत रहते तथा सदैव इसी चिन्ता में मग्न रहते थे कि दूसरों का उपकार किस प्रकार हो। उनके जीवन-चरित लिखनेवालों ने ठीक ही कहा है कि उन्होंने "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" जन्म ग्रहण किया था। इतना ही नहीं, वे अपनी मुक्ति तक के लिये वन में तप करने नहीं गये। दुनिया जली जा रही है--यदि कोई इसे बचाने का उपाय नहीं करेगा तो कैसे काम चलेगा ? उनके समस्त जीवन में यही एक चिन्ता थी कि जगत् में इतना दु:ख क्यों है ? तुम लोग क्या यह समझते हो कि हम सब उनके समान नीतिपरायण हैं ?

* * * *

ईसा मसीह ने जिस धर्म का प्रचार किया था उस विशुद्ध ईसाई धर्म और वेदान्त धर्म में बहुत थोड़ा भेद था। उन्होंने अद्वैतवाद का भी प्रचार किया और जनसाधारण को सन्तुष्ट रखने के लिये, उसे उच्चतम आदर्श की धारणा कराने के लिये सोपान-

रूप से द्वैतवाद के विषय में भी कहा। जिन्होंने 'मेरे स्वर्गस्थ पिता' कहकर प्रार्थना करने का उपदेश दिया था, उन्होंने यह भी कहा था 'मैं और मेरे पिता एक हैं।' वे यह भी जानते थे कि इस स्वर्गस्थ पितारूप द्वैतभाव की उपासना करते करते ही अभेद बुद्धि आ जाती है। उस समय ईसाई धर्म केवल प्रेम और आशीर्वादपूर्ण था किन्तु बाद में अनेक प्रकार के मतों ने घुसकर उसे विकृत कर दिया। यह जो क्षुद्र 'मैं' के लिये मारकाट, 'मैं' के प्रति घोर आसक्ति, और केवल इसी जीवन में नहीं बल्कि मृत्यु के बाद भी इस क्षुद्र 'मैं' तथा इस क्षुद्र व्यक्तित्व को ही लेकर रहने की इच्छा,ये सब इस धर्म के विकृत भाव से उत्पन्न हुए हैं। वे कहते हैं, यह निःस्वार्थपरता है--यह नीति की आधार-शिला है! यही अगर नीति की आधार-शिला हो तो फिर दुर्नीति की भित्ति क्या है? यह आश्चर्य की बात है कि जिन सब नर-नारियों से हम अधिक ज्ञान की आशा रखते हैं उन्हें यह डर लगता है कि इस क्षुद्र 'मैं' के मिटने पर सब नीति बिलकुल नष्ट हो जायेगी। यह कहने से कि इस क्षुद्र 'मैं' के विनाश पर ही यथार्थ नैतिकता अवलम्बित है, ये लोग घबड़ा जाते हैं। सब प्रकार की नीति, शुभ तथा मंगल का मूलमन्त्र 'मैं' नहीं, 'तुम' है। कौन सोचता है कि स्वर्ग और नरक हैं या नहीं? कौन सोचता है कि मेरी आत्मा है या नहीं? कौन सोचता है कि कोई अनश्वर सत्ता है या नहीं? हमारे सामने यह सारा संसार है जो महादुःख से परिपूर्ण है। बुद्ध के समान इस संसार-सागर में गोता लगाकर या तो इस संसार के दुःख को दूर करो या इस प्रयत्न में प्राण त्याग दो। अपने को भूल जाओ; आस्तिक हो या नास्तिक, अज्ञेयवादी ही हो या वेदान्ती, ईसाई हो या मुसलमान--प्रत्येक के लिये यही सबसे पहली शिक्षा है। यह शिक्षा

यह उपदेश सभी समझ सकते हैं, 'मैं नहीं, मैं नहीं', 'तुम ही हो, तुम ही हो' --अहंनाश अर्थात् प्रकृत 'मैं' का विकास।"

दो शक्तियाँ सदा समान भाव से कार्य कर रही हैं। एक अहं और दूसरी नाहं। यह निःस्वार्थपर शक्ति केवल मनुष्यों में ही नहीं, किन्तु तिर्यग् जाति में भी देखी जाती है--यहाँ तक कि क्षुद्रतम कीटाणुओं में भी इस शक्ति का विकास दीख पड़ता है। नर-रक्त की प्यासी लपलपाती जीभवाली बाघिन भी अपने बच्चे की रक्षा के लिये जान देने को प्रस्तुत रहती है। अत्यन्त बुरा आदमी भी जो अनायास ही अपने भाई का गला काट सकता है--वह भी भूख से मरती हुई अपनी स्त्री तथा बाल-बच्चों के लिये सब कुछ करने को तैयार रहता है। सृष्टि के भीतर ये दोनों शक्तियाँ पास पास ही काम कर रही हैं--जहाँ एक शक्ति देखोगे,वहाँ दूसरी भी दीख पड़ेगी। एक स्वार्थपरता है, और दूसरी निःस्वार्थपरता। एक है ग्रहण, दूसरी त्याग। क्षुद्रतम प्राणी से लेकर उच्चतम प्राणी तक समस्त ब्रह्माण्ड इन्हीं दोनो शक्तियों का लीलाक्षेत्र है। इसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं--यह स्वतःप्रमाण है।

समाज के एक सम्प्रदाय के लोगों को यह कहने का क्या अधिकार है कि दुनिया का सारा काम और विकास इन दोनों शक्तियों में से अहंशक्तिप्रसूत प्रतिद्वन्द्विता एवं संघर्ष से ही पैदा होता है? यह बात कह देने का उन्हें क्या अधिकार है कि जगत् का सारा कार्य राग, द्वेष, विवाद और प्रतिद्वन्द्विता के ऊपर ही अधिष्ठित है? ये सारी प्रवृत्तियाँ ही इस जगत् के अधिकांश व्यक्तियों को संचालित करती हैं इसे हम अस्वीकार नहीं करते। किन्तु उन्हें दूसरी शक्ति को बिलकुल न मानने का क्या अधि-

कार है ? और क्या वे इसे अस्वीकार कर सकते हैं कि यह प्रेम, अहंशून्यता अथवा त्याग ही जगत् की एकमात्र भावरूपिणी शक्ति है ? दूसरी शक्ति इस नाहम् अथवा प्रेम-शक्ति का ही विपरीत रूप से प्रयोग करना है और उसीसे प्रतिद्वन्द्विता की उत्पत्ति होती है । अशुभ की उत्पत्ति भी निःस्वार्थपरता से होती है, और अशुभ का परिणाम भी शुभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । वह केवल मंगल-विधायिनी शक्ति का दुरुपयोग मात्र है। एक व्यक्ति ज़ो दूसरे की हत्त्या करता है वह भी प्रायः अपने पुत्रादि के प्रति स्नेह की प्रेरणा से ही, एवं उनके लालन-पालन के लिये। अपना प्रेम अन्य लाखों व्यक्तियों से हटाकर वह केवल अपनी सन्तान के प्रति दर्शाता है, इस कारण उसका प्रेम ससीम भाव में परिणत हो जाता है, किन्तु ससीम हो या असीम, वह मूलतः एक ही प्रेम है ।

अतएव समग्र जगत् की परिचालक, जगत् में एकमात्र प्रकृत और जीवन्त शक्ति वही एक अद्भुत वस्तु है--वह किसी भी आकार में व्यक्त क्यों न हो, वह उस प्रेम, निःस्वार्थपरता तथा त्याग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं । वेदान्त यहीं पर द्वैतवाद छोड़कर अद्वैतवाद पर जोर देता है । हम भी इस अद्वैत-वाद पर इसीलिये विशेष जोर देते हैं क्योंकि हम जानते हैं, हमें ज्ञान-विज्ञान का अभिमान होनेपर भी यह मानना ही पड़ेगा कि जहाँ एक कारण द्वारा कुछ कार्यों की व्याख्या की जाती है, वहीं अनेक कार्यों द्वारा भी यदि उन्हीं कार्यों की व्याख्या की जाय तो अनेक कारण स्वीकार न करके एक कारण स्वीकार करना ही अधिक युक्तिसंगत होता है । यहाँ यदि हम यह स्वीकार कर लें कि वह एक ही अपूर्व सुन्दर प्रेम सीमित होकर ही असत् रूप में

प्रतीत होता है तो हमने एक ही प्रेमशक्ति द्वारा सम्पूर्ण जगत् की व्याख्या कर दी। नहीं तो हमें जगत् के दो कारण मानने पड़ेंगे––एक शुभ शक्ति, दूसरी अशुभ शक्ति–एक प्रेम-शक्ति, दूसरी द्वेष-शक्ति। इन दोनों सिद्धान्तों के बीच में कौन अधिक न्याय-संगत है ?––निश्चय ही शक्ति का एकत्व मानकर सम्पूर्ण जगत् की व्याख्या करना।

मैं अब ऐसी बातों की चर्चा करूँगा जो सम्भवत: द्वैतवादियों को पसन्द नहीं हैं। मैं द्वैतवाद की इस आलोचना में और अधिक समय नहीं दूँगा। मेरा यहाँ यही उद्देश है कि नीति और निःस्वार्थपरता के उच्चतम आदर्श उच्चतम दार्शनिक धारणा के साथ असंगत नहीं हैं। मेरा उद्देश्य यही दिखाने-का है कि नीतिपरायण होने से तुम्हें दार्शनिक धारणा को नवाना नहीं पड़ता, वरन् नीति की नींव पर पहुँचने के लिये तुम्हें उच्चतम दार्शनिक और वैज्ञानिक धारणासम्पन्न बनना पड़ेगा। मनुष्य का ज्ञान मनुष्य के शुभ का विरोधी नहीं है वरन् जीवन के प्रत्येक विभाग में ही ज्ञान हमारी रक्षा करता है। ज्ञान ही उपासना है। हम जितना जान सकें उसी में हमारा मंगल है। वेदान्ती कहते हैं,इस आपात प्रतीयमान अशुभ का कारण है–असीम का सीमाबद्ध भाव। जो प्रेम सीमाबद्ध होकर क्षुद्र-भावापन्न हो जाता है तथा अशुभ प्रतीत होता है वही फिर चरमावस्था में ब्रह्म को प्रकाशित करता है और वेदान्त यह भी कहता है कि इस आपात-प्रतीयमान सम्पूर्ण अशुभ का कारण हमारे भीतर ही है। किसी दैवी पुरुष की तुम निन्दा न करना अथवा निराश या विषण्ण न हो जाना, अथवा यह भी न सोचना कि हम गर्त के बीच में पड़े हैं और जब तक कोई दूसरा आकर हमारी सहायता नहीं करता तब तक हम इससे निकल नहीं सकते। वेदान्त कहता है, दूसरे

की सहायता से हमारा कुछ नहीं हो सकता। हम रेशम के कीड़े के समान हैं। अपने ही शरीर से अपने आप जाल बनाकर उसी में आबद्ध हो गये हैं। किन्तु यह बद्धभाव चिरकाल के लिये नहीं है। हम लोग उससे तितली के समान बाहर निकलकर मुक्त हो जायेंगे। हम लोग अपने चारों ओर इस कर्मजाल को लगा देते हैं और अज्ञानवश सोचने लगते हैं कि हम बँधे हैं, और कभी कभी सहायता के लिये रोते-चिल्लाते हैं। किन्तु बाहर से कोई सहायता नहीं मिलती, सहायता मिलती है भीतर से। दुनिया के सारे देवताओं के पास तुम रो सकते हो, मैं भी बहुत वर्ष इसी तरह रोता रहा, अन्त में देखा कि मुझे सहायता मिल रही है किन्तु यह सहायता भीतर से मिली। भ्रान्तिवश इतने दिन तक जो अनेक प्रकार के काम करता रहा, उस भ्रान्तिको मुझे दूर करना पड़ा। यही एकमात्र उपाय है। मैंने स्वयं अपने को जिस जाल में फँसा रखा है, वह मुझे ही काटना पड़ेगा और उसे काटने की शक्ति भी मुझमें ही है। इस विषय में निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि मेरे जीवन की सदसत् कोई भी प्रवृत्ति व्यर्थ नहीं गई,——मैं उसी अतीत शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का समष्टिस्वरूप हूँ। मैंने जीवन में बहुतसी गलतियाँ की हैं, किन्तु ये किए बिना आज जो मैं हूँ वह कभी न होता। मैं अब अपने जीवन से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। पर मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि तुम घर जाकर चाहे जितना अन्याय करते रहो, मेरी बात का गलत मतलब न समझ लेना। मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि कुछ भूल-चूक हो गई है, इसलिये एकदम हाथ पर हाथ रखकर मत बैठे रहो किन्तु यह समझ रखो कि अन्त में फल सबका शुभ ही होता है। इसके विपरीत और कुछ

कभी नहीं हो सकता, क्योंकि शिवत्व और विशुद्धत्व हमारा स्वाभाविक धर्म है। उसका किसी भी प्रकार नाश नहीं हो सकता। हम लोगों का यथार्थ स्वरूप सदा ही एकरूप रहता है।

हम लोगों को यह जानना आवश्यक है कि हम दुर्बल होने के कारण अनेक प्रकार के भ्रम में पड़ते हैं, और अज्ञान के कारण ही हम दुर्बल हैं। मैं पाप शब्द के बजाय भ्रम शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझता हूँ। हमें किसने अज्ञानान्धकार में फेंका है? उत्तर स्पष्ट है कि हम लोग स्वयं ही अपने को अज्ञानान्धकार में फेंकते हैं। हम लोग स्वयं अपनी आँखों पर हाथ रखकर 'अँधेरा, अँधेरा' कहकर चिल्लाते हैं। हाथ हटा लो, देखोगे कि जीवात्मा स्वप्रकाश है, स्व-रूप से ही आलोकित है। आधुनिक वैज्ञानिकगण क्या कहते हैं, यह क्यों नहीं देखते? इस सब क्रमविकास का क्या कारण है?—वासना। कोई भी पशु जिस रूप में वह अवस्थित है, उसे छोड़कर उससे उच्चतर रूप में जाना चाहता है—वह सोचता है कि वह जिस अवस्था में है, उसके उपयोगी नहीं है—इसलिये वह एक नूतन शरीर धारण कर लेता है। तुम निम्नतम जीवाणु से अपनी इच्छाशक्ति के कारण उत्पन्न हुए हो। फिर उसी इच्छा-शक्ति का प्रयोग करो, और भी अधिक उन्नत हो जाओगे। इच्छा सर्वशक्तिमान है। तुम कहोगे, यदि इच्छा सर्वशक्तिमान है तो मैं जितने काम करना चाहता हूँ, उन्हें क्यों नहीं कर पाता? उत्तर यह है कि तुम जब ऐसी बातें करते हो उस समय केवल अपने क्षुद्र 'मैं' की ओर देखते हो। सोचकर देखो, तुम क्षुद्र जीवाणु से इतने बड़े मनुष्य हो गये। किसने तुम्हें मनुष्य बनाया? तुम्हारी अपनी इच्छाशक्ति ने ही। यह इच्छाशक्ति

सर्वशक्तिमान है--तुम क्या यह अस्वीकार कर सकते हो ? जिसने तुम्हें इतना उन्नत बना दिया, वह तुम्हें और भी अधिक उन्नत करेगी। हम लोगों का प्रयोजन है चरित्र, इच्छाशक्ति की दृढता, उसकी दुर्बलता नहीं।

अतएव यदि मैं तुम्हें यह उपदेश दूँ कि तुम्हारी प्रकृति असत् है, और यह कहूँ कि तुमने कुछ भूलें की हैं तो इसलिये अब तुम अपना जीवन केवल पश्चात्ताप करने तथा रोने-धोने में ही बिताओ तो इससे तुम्हारा कुछ भी उपकार न होगा, वरन् उससे और भी दुर्बल हो जाओगे। ऐसा करना तुम्हें सत्पथ बताने के बजाय असत्पथ दिखाना होगा। यदि हजारों साल इस कमरे में अँधेरा रहे और तुम उस कमरे में आकर 'हाय ! बड़ा अँधेरा है ! बड़ा अँधेरा है !' कह कह कर रोतें रहो तो क्या अँधेरा चला जायगा ? कभी नहीं। परन्तु एक दियासलाई जलाते ही कमरा प्रकाशित हो उठेगा। अतएव जीवन भर 'मैंने बहुत दोष किए हैं, मैंने बहुत अन्याय किया है' यह सोचने से क्या तुम्हारा कुछ भी उपकार हो सकेगा ? हममें बहुत से दोष हैं, यह किसी को बतलाना नहीं पड़ता। ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो, एक क्षण में सब अशुभ चला जायगा। अपने प्रकृत स्वरूप को पहचानो, प्रकृत 'में' को--उसी ज्योतिर्मय उज्ज्वल, नित्यशुद्ध 'मैं' को, प्रकाशित करो--प्रत्येक व्यक्ति में उसी आत्मा को जगाओ। मैं चाहता हूँ कि सभी व्यक्ति ऐसी दशा में आ जायँ कि अतिजघन्य पुरुष को भी देखकर उसकी बाह्य दुर्बलताओं की ओर वे दृष्टिपात न करें, बल्कि उसके हृदय में रहनेवाले भगवान को देख सकें। और उसकी निन्दा न कर, यह कह सकें, 'हे स्वप्रकाशक, ज्योतिर्मय, उठो !

हे सदाशुद्धस्वरूप उठो ! हे अज, अविनाशी, सर्वशक्तिमान,उठो! आत्मस्वरूप प्रकाशित करो । तुम जिन क्षुद्र भावों मे आबद्ध पड़े हो वे तुम्हें सोहते नहीं ।'

अद्वैतवाद इसी श्रेष्ठतम प्रार्थना के उपदेश को देता रहता है । यही एकमात्र प्रार्थना है——निजस्वरूप-स्मरण, सदा उसी अन्तःस्थ ईश्वर का स्मरण, उसी को सदा अनन्त, सर्वशक्तिमान, सदाशिव, निष्काम कहकर उसका स्मरण। यह क्षुद्र मैं उसमें नहीं रहता, क्षुद्र बन्धन उसे नहीं बाँध सकते । और वह अकाम है इसीलिये अभय और ओजःस्वरूप है, क्योंकि कामना तथा स्वार्थ से ही भय की उत्पत्ति होती है । जिसे अपने लिये कोई कामना नहीं, वह किससे डरेगा ? कौनसी वस्तु उसे डरा सकती है ? क्या उसे मृत्यु डरा सकती है ? अशुभ, विपत्ति डरा सकती है ? कभी नहीं। अतएव यदि हम अद्वैतवादी हैं तो हमें यह अवश्य सोचना होगा कि हमारा 'मैं-पन' इसी क्षण से मृत है । फिर मैं स्त्री हूँ या पुरुष हूँ यह सब भाव नहीं रह जाता, ये कुसंस्कार मात्र हैं, और शेष रहता है वही नित्यशुद्ध, नित्य ओजःस्वरूप, सर्वशक्तिमान सर्वज्ञस्वरूप, और तब हमारा सारा भय चला जाता है। कौन इस सर्वव्यापी 'मैं' का अनिष्ट कर सकता है ? इस प्रकार हमारी सम्पूर्ण दुर्बलता चली जाती है। तब दूसरों में भी उसी शक्ति को उद्दीप्त करना हमारा एकमात्र कार्य हो जाता है। हम देखते हैं, वे भी यही आत्मा-स्वरूप हैं, किन्तु वे यह जानते नहीं। अतएव हमें उन्हें सिखाना होगा——उनके इस अनन्त स्वरूप के प्रकाशार्थ हमें उनकी सहायता करनी पड़ेगी । मैं देखता हूँ कि जगत् में इसी के प्रचार की सबसे अधिक आवश्य-

कता है। ये सब मत अत्यन्त पुराने हैं, उस समय शायद आज के बहुत से पर्वत भी न थे, जब ये मत प्रथम प्रकाशित एवं प्रचारित हुए थे। सभी सत्य सनातन हैं। सत्य व्यक्तिविशेष की सम्पत्ति नहीं है। कोई भी जाति, कोई भी व्यक्ति उसे अपनी सम्पत्ति कहकर दावा नहीं कर सकता। सत्य ही सब आत्मा का यथार्थ स्वरूप है। किसी भी व्यक्तिविशेष का उस पर विशेष अधिकार नहीं है। किन्तु हमें उसे कार्यरूप में परिणत करना होगा, सरल भाव से उसका प्रचार करना पड़ेगा, क्योंकि तुम देखोगे कि सभी उच्चतम सत्य अत्यन्त सहज और सरल हैं। अत्यन्त सहज और सरल भाव से ही उनका प्रचार करना आवश्यक है जिससे वह समाज में सभी जगह अपना अधिकार कर ले, उच्चतम मस्तिष्क से लेकर अत्यन्त साधारण मन द्वारा भी समझा जा सके, तथा आबाल-वृद्ध-वनिता सभी उसे जान सकें। ये न्याय के कूट विचार, दार्शनिक मीमाँसायें, ये सब मतवाद और क्रिया-काण्ड--इन सभी ने किसी एक समय भले ही उपकार किया हो, किन्तु आइये, हम सब आज से--इसी क्षण से धर्म को सहज बनाने की चेष्टा करें और उस सत्ययुग के पुनरागमन में सहायता करें, जब कि प्रत्येक व्यक्ति उपासक होगा तथा उसका अन्तरस्थ सत्य ही उसका उपास्य देवता होगा।

हमारे अन्य प्रकाशन

१-३. श्रीरामकृष्णवचनामृत—तीन भागों में–अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रथम भाग (तृतीय संस्करण)—मूल्य ६) ; द्वितीय भाग (द्वि. सं.)—मूल्य ६) ; तृतीय भाग (द्वि. सं.)—मूल्य ७)

४-५. श्रीरामकृष्णलीलामृत— (विस्तृत जीवनी)–(तृतीय संस्करण)— दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६. माँ सारदा-- (श्रीरामकृष्ण देव की लीला-सहधर्मिणी का सुरम्य, अलौकिक और पावन जीवन-चरित), मूल्य ४॥)

७. विवेकानन्द चरित–(विस्तृत जीवनी)– (द्वितीय संस्करण) सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६ रु.)

८-९. धर्म-प्रसंग में स्वामी शिवानन्द—दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य २॥।)

१०. परमार्थ-प्रसंग--स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई) कपड़े की जिल्द, मूल्य ३॥।) कार्डबोर्ड की जिल्द, ३।)

स्वामी विवेकानन्दकृत पुस्तकें

११. विवेकानन्दजी के संग में (वार्तालाप)-- शिष्य शरच्चन्द्र, तृ. सं., ५।)

१२. राजयोग (पातंजल-योगसूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्या सहित) द्वि. सं., २॥)

१३. भारत में विवेकानन्द– भारतीय व्याख्यान--(द्वि.सं) ५)

१४. ज्ञानयोग (द्वि. सं.) ३)

१५. पत्रावली (प्रथम भाग) २=)

१६. पत्रावली (द्वितीय भाग) २=)

१७. देववाणी २=)

१८. धर्मविज्ञान (द्वि. सं.) १॥=)

१९. हिन्दू धर्म (तृ. सं.) १॥)

२०. कर्मयोग (तृ. सं.) १।=)

२१. प्रेमयोग (च. सं.) १।=)

२२. भक्तियोग (च. सं) १।=)

२३. स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप (द्वि. सं.) १।=)

२४. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (च. सं.) १।)

२५. परिव्राजक (च.सं.) १।)

२६. प्राच्य और पाश्चात्य (च. सं.) १।)

२७. महापुरुषों की जीवनगाथाएँ (अष्टम सं.) १।)
२८. विविध प्रसंग १=)
२९. चिन्तनीय बातें १)
३०. धर्मरहस्य द्वि. सं.) १)
३१. जाति, संस्कृति और समाजवाद १)
३२. स्वाधीन भारत ! जय हो! (द्वि. सं.) १)
३३- भगवान रामकृष्ण, धर्म तथा संघ (द्वि. सं.) ।।।=)
३४. शिक्षा (तृ. सं.) ।।।=)
३५. कवितावली (द्वि. सं.) ।।=)
३६. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वि. सं.) ।।=)
३७. मेरे गुरुदेव (ष. सं.) ।।=)
३८. शक्तिदायी विचार (तृ. सं.) ।।=)
३९. मेरी समरनीति (द्वि. सं.) ।।=)
४०. विवेकानन्दजी के उद्‌गार ।।=)
४१. शिकागो वक्तृता (सप्तम सं.) ।।=)
४२. हमारा भारत ।।)
४३. सरल राजयोग (द्वि. सं.) ।।)
४४. वर्तमान भारत (च. सं.) ।।)
४५. पवहारी बाबा (द्वि. सं.) ।।)
४६- मरणोत्तर जीवन (तृ. सं.) ।।)
४७. मेरा जीवन तथा ध्येय (तृ. सं.) ।।)
४८. मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनाएँ (द्वि. सं.) ।=)
४९. ईशदूत ईसा (द्वि. सं.) ।=)
५०. विवेकानन्दजी की कथाएँ (द्वि. सं.) १।)
५१. भारतीय नारी (च. सं.) ।।।)

---

५२. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (तृ. सं.) ।।।)
५३. वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार–स्वामी सारदानन्द ।=)
५४. गीतातत्त्व–स्वामी सारदानन्द २।=)
५५. साधु नागमहाशय (भगवान श्रीरामकृष्ण देव के अन्तरंग गृही शिष्य) १।।)
५६. भारत में शक्ति-पूजा —स्वामी सारदानन्द, १।)
५७. रामकृष्ण–संघ— आदर्श और इतिहास —स्वामी तेजसानन्द ।।।)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर–१.

तन्नो हंसः प्रचोदयात्